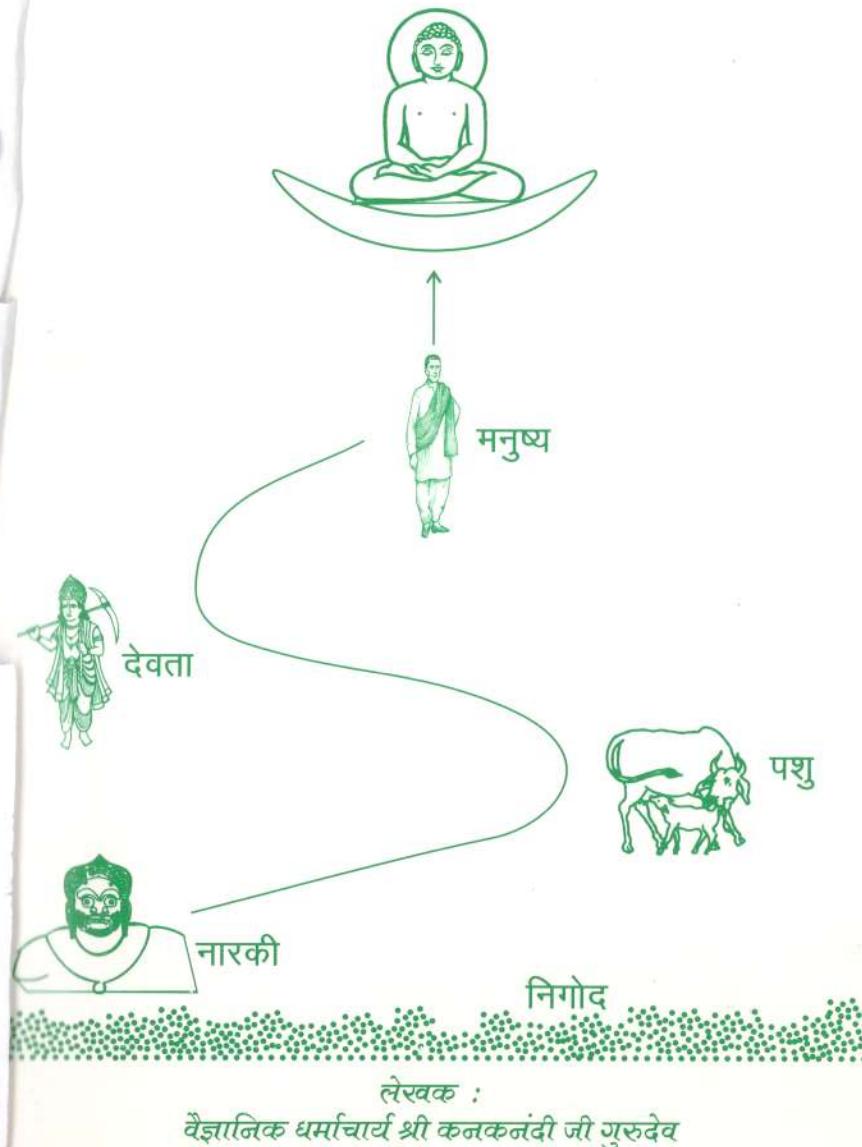


जैन तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा 6)

Jain Facts : Beyond Modern Science

विभिन्न क्रम विकासवाद एवं परम आद्यात्मिक विकासवाद

(शांति-सफलता = I.Q. < E.Q. < S.Q.)





2006 के गोमटेश बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर आचार्य श्री कनकनंदी के साहित्य विक्रिय केन्द्र (श्रवण बेलगोला) में अवलोकन करते हुए साधु संत। इस कार्य के सहयोगी डॉ प्रकाशजी, छोटूलालजी चित्तौड़ा, सोहनलालजी देवडा, श्यामसुन्दरजी (धर्म दर्शन सेवा संस्थान के कार्यकर्ता)



परसाद में आचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव तथा मुनि सच्चिदानन्द के केशलौच के अवसर पर 'भारतीय संस्कृति में विश्व शान्ति और पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र' का विमोचन करते हुए प्रो० डॉ०जे०हेच० हुमर डॉ० एन०एल० कछारा, एम०के० मिण्डा आदि।

जैन तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा-6)
Jain Facts : Beyond Modern Knowledge

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

(शांति-सफलता = I.Q.< E.Q.< S.Q.)

लेखक :

वैज्ञानिक धर्मचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

प्रथम - 155

संस्करण - प्रथम - 2006

प्रतिवाँ - 1000

मूल्य - 25.00/- रुपये

प्रकाशक :

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडोत)

धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)

मुद्रक :

सीमा प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, उदयपुर, फोन : 2492580

द्रव्यदाता-ज्ञानदाता

स्व. श्री ब्र. नेमीनाथ पाटील की पुण्यस्मृति में

पत्नी - श्रीमती राजामति नेमीनाथ पाटील

पुत्र - श्री कुबेर नेमीनाथ पाटील, श्री शीतल नेमीनाथ पाटील,

पुत्रवधु - श्रीमती चक्रेश्वरी कुबेर पाटील

पौत्र - अरिहंत, अनंत, आरती

देगुलहळी (कर्नाटक)

की ओर से प्रकाशित



स्वर्गीय ब्रह्मचारी नेमीनाथ पाटील मुनि दीक्षा हेतु वैज्ञानिक
धर्मचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव को श्रीफल अर्पण करते हुए।

आद्य पठनीय

आध्यात्मिकता (S.Q.) से सर्वांगीण-परम विकास

जीव एक अक्षय अनन्त गुण-धर्म-अवस्थाओं का अकृत्रिम, शाश्वतिक अखण्ड पिण्ड है। उस में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुघुत्व, प्रदेशत्व, ऊर्ध्वगमनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व आदि प्राकृतिक, शुद्ध गुण धर्म हैं। परन्तु अनन्तानन्त कर्मणु के संश्लेश बन्ध के कारण उपर्युक्त गुण-धर्म जीव में ही सुप्तगुप्त एवं विकृत रूप में हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव- पुरुषार्थ आदि के कारण अन्तर्निर्हित गुणादि में विविध प्रकार के उत्थान-पथन रूपी परिवर्तन होते रहते हैं जब तक कि जीव परम विकास-अवस्था रूपी परमात्मा/ सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर लेता है।

इस विविध क्रम विकासवाद एवं परमविकासवाद कृति मुख्यतः I.Q., E.Q., S.Q. को केन्द्र करके प्रस्तुत विषय का पतिपादन किया गया है। प्रत्येक संसारी जीव में I.Q(बुद्धि, मस्तिक, ज्ञान) E.Q.(संवेदना, भावना, हृदय, विचार) S.Q. (आध्यात्मिकता, आत्म-स्वरूप, निर्विचार, परम विवित ज्ञान) रूपी तीन तत्त्व या बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, अथवा चेतन, अचेतन, अवचेतन या Ed , Ego, Supreme ego आदि गुण होते हैं। शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रिय से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से भावना, भावना/विचार से आध्यात्मिकता उत्तरोत्तर विकास के पहले पहले पूर्व पूर्व का विकास अवश्य होता है। परन्तु पूर्व पूर्व के विकास में उत्तरोत्तर विकास पूर्णतः अवश्य होगा इसकी अनिवार्यता नहीं है। वैज्ञानिकों ने भी माना है कि सामान्य व्यक्ति स्वोपलब्ध मस्तिक(I.Q.) का 5% प्रयोग में लाते हैं; यदि कोई 7% उपयोग में लायेगा तो वह विद्वान बन जायेगा ; यदि कोई सम्पूर्ण 100% जागृत करके उपयोग में लाने में समर्थ होगा तो वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्ति सम्पन्न परमात्मा बन जायेगा। सम्पूर्ण I.Q. को जागृति/ विकास करने में वह समर्थ होगा जो पूर्णतः E.Q. विकास के अनन्तर S.Q. को जागृति/ विकास करने में समर्थ होगा। अतएव सम्पूर्ण परम विकास का सर्वोच्च माध्यम/ कारक S.Q. ही है। क्योंकि अनन्त शक्ति, गुण आदि आत्मा/आध्यात्म S.Q. में ही विद्यमान है। I.Q. में संख्यात शक्ति है तो E.Q. असंख्यात शक्ति है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय में संख्यात शक्ति है। शुद्ध परमाणु, धर्म द्रव्य, अर्धम द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, में अनन्तशक्ति होते हुए भी इन शुद्ध द्रव्यों का जीव के विकास या पतन के लिए मुख्य / सिध्य योगदान नहीं है परन्तु परोक्ष, गौण योगदान है।

पूर्व जन्मों के कर्म- संस्कार तथा वर्तमान के अध्ययन, निरीक्षण, परीक्षण, मनन- चिन्तन, स्मरण आदि से I.Q. में बुद्धि होती है। इसके सदुपयोग से जीविका निर्वाह, भौतिक निर्माण, भौतिक- बौद्धिक शोध- बोध- आविष्कार, खोज आदि संभव विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

तुरूपयोग से संकीर्ण-स्वार्थ- सिद्धि, शोषण, हिंसादि पांच पाप, भष्टचार, आतंकवाद, संक्लेश, आत्मा हत्या, फैसन-व्यसन आदि अधिक संभव है। कर्तव्य पालन की अधिकार प्राप्ति की प्रमुखता भी इसकी (I.Q.) एक विशेषता है। अतएव दुबुद्धि-ख- असफलता है तो सुबुद्धि से सुख- सफलता है। कुबुद्धि के कारण चण्डाल - लोक कलिंग युद्ध किया तथा सुबुद्धि के कारण प्रियदर्शी अशोक बना।

पूर्व जन्मों के सुसंस्कार के कारण तथा वर्तमान जीवन के सुसंस्कार, मुशिका, I.Q. तथा S.Q. सम्पन्न व्यक्तियों के उपदेश, मार्गदर्शन, संगति के कारण E.Q. की एवं वृद्धि होती है। E.Q. वाले की I.Q. उत्तम कार्य ही करेगी। ऐसे व्यक्ति, करुणा, दान, परोपकार, के द्वारा स्व-पर की शान्ति-सफलता का कारण बनेगा। अधिकार की अपेक्षा स्वेच्छा से नैतिक उत्तरदायित्व को पालन करना भी E.Q. की एक पत्ता है। सुबुद्धि (I.Q.) एवं E.Q. के गुणधर्म के साथ, S.Q. में आत्मनिष्ठता, प्रता, समता, आत्म-ध्यान, वैराग्य, त्याग, विश्व मैत्री, विश्व शान्ति, विश्व कल्याण की भावना अधिक होती है। भौतिक सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि, शक्ति का अधिकार एवं भोग त्याग करना इस की एक बड़ी विशेषता है। इसलिए S.Q. वाला इन भौतिक सत्ता-सम्पत्ति आदि से परोपकारदि करने के बदले में भावात्मक रूप से और भी अधिक होता है। जैसा कि तीर्थकर, बुद्ध, ईसा मसीह, साधु-संत आदि सब के कल्याण की भावना भाते हैं, प्रार्थना करते हैं, उपदेश देते हैं, धर्म का प्रचार-प्रसार करते हैं। E.Q., S.Q. के बिना I.Q. वाला केवल बाह्य सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, भोगभोग में ही सुख एवं विकास मानता है तथा इसके बिना दुःख विनाश एवं पतन मानता है। बाह्य सत्तादि में जी सहयोगी बनता है उसे मोह से मित्र मानता है और उसे के प्रति ही स्वार्थ पूर्ण व्यवहार होता है। यदि स्व-स्वार्थ-पूर्ति में पूर्व सहयोगी का भी सहयोग नहीं मिलता है तो वह उस के प्रति तथा अन्य जीवों के प्रति भी E.Q. नहीं वर्तता है। इसलिए ऐसे जीव संकीर्ण-स्वार्थी, असामाजिक, शोषणकारी बन जाता है जिससे उसका सर्वांगीण विकास नहीं होता है तथा मानसिक एवं आध्यात्मिक, शक्ति नहीं मिलती है। I.Q. विशेषतः लौकिक, गौदिक, भौतिक, मोह-राग-द्वेषात्मक, संकीर्ण-स्वार्थ, तनाव जनक होती है।

I.Q. वाला बाह्य सत्ता- सम्पत्ति आदि के लिए अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि नहीं करता है तथा प्राप्त सत्तादि का सदुपयोग भी स्व-पर-विश्व कल्याण के लिए करता है। भले कोई अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए उस का सहयोगी बने या न बने तब भी वह सब के प्रति समान संवेदनशील होता है तथा किस के प्रति भी दुर्व्यवहार नहीं करता है। E.Q. विशेषतः नैतिक, परोपकारी, उदार, धार्मिक, सामाजिक, उदार-स्वार्थी, प्रशन्नता उत्पादक होती है।

S.Q. वाला प्राप्त भौतिक सत्ता, सम्पत्ति आदि के प्रति भी मोह आसक्त नहीं होता है परन्तु उसका त्याग करता है। इसलिए इस सम्बन्धी राग-द्वेष, मोह आदि किसी भी जीव के प्रति नहीं करता। S.Q. विशेषतः आध्यात्मिक, परम, उदार, पवित्र आत्मिक शान्ति उत्पादक होती है।

S.Q. से रहित कोई व्यक्ति यदि समाज सेवक, डॉक्टर, नेता, नर्स आदि बनेगा तो इस सेवामय कार्य में भी संकीर्ण-स्वार्थ सिद्धि, शोषण, क्रूरता पूर्ण कार्य आदि करेगा। E.Q. एवं S.Q. रहित यदि कोई धार्मिक, साधु-संत, धर्म प्रचारक बनेगा तो वह ढोगी, विषमता, भेद-भाव आदि करने वाला बनेगा। क्योंकि कार्य कारण भावानुसार जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, जैसी मति वैसी गति 'as you think so yo lecome' अनुसार यह सब अवश्यंभावी, है।

सामान्य व्यक्तियों से लेकर वैज्ञानिकों की I.Q. तथा वैज्ञानिक यंत्रों की शक्ति सीमित/संख्यात होने के कारण अमूर्तिंक अनन्त आध्यात्मिक शक्ति का परिज्ञान उन्हें असंभव है। इसलिए वैज्ञानिकों को भी परमसत्य, परमविकासवाद के परिज्ञान के लिए S.Q. (आध्यात्मिक) बनाना अनिवार्य है; इस विषय को महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन, ए.एन. व्हाईट हेड, इमर्सन आदि ने भी माना है। आधुनिक विज्ञान भी इसकी परिकल्पना कर रहा है। महान् आध्यात्मिक गणितज्ञ एवं दार्शनिक पायथागोरस, सुकरात, महात्मा बुद्ध, नारायण श्री कृष्ण, उपनिषद के ऋषि आदि की भी यही मान्यता रही है। महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिक तीर्थकरों ने अत्यन्त व्यवस्थित, गणितीय, वैज्ञानिक पद्धति से उपर्युक्त विषयों को परम S.Q. के साथ I.Q. से जान कर दिव्यध्वनि के माध्यम से प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्धी वर्णन अनेक जैन आगम ($1\frac{1}{2}$ - 2 हजार वर्ष प्राचीन) में पाया जाता है। विशेष जिजासु मेरी (1 विश्व विज्ञान रहस्य (2 विश्वद्रव्य विज्ञान (द्रव्य संग्रह) (2 स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्षशास्त्र) (4 कौन है विश्व का कर्ता-धर्ता-हर्ता (5 ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं सायन विज्ञान (6 अनंत शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा आदि कृतियों का अध्ययन करें। इस के अर्थ सहयोगी कुवेर नेमीनाथ पाटील तथा सहयोगी मु. सच्चिदानंद, मु. तीर्थनंदी, आर्यिका जिनवाणी, गुरुवाणी को मेरा यथा योग्य शुभाशीर्वाद, प्रतिनमोऽस्तु, समाधिरस्तु आशीर्वाद। उपर्युक्त गुण-दोष, हेय-उपादेय, करणीय-अकरणीय को जानकर परम विकाश -सुख - शान्ति चाहने वाले महानुभावों को I.Q. को समीचिन बनाकर E.Q. को वृद्धि करते हुए S.Q. को प्राप्त करें ऐसी I.Q., E.Q एवं S.Q. के साथ-

S.Q. के साधक

आचार्य श्री कनकनन्दी

परसाद- उदयपुर (राज.) 21-2-06

- : विषयानुक्रमणीका :-

विषय	पेज नं.
1) द्रव्य स्वभाव से जीव जगत् का सद्ब्राव है - न कि - ईश्वर कर्तृत्व से या डार्विन के विकास वाद से	07
2) विविध क्रम विकास वाद एवं परम विकास वाद शांति - सफलता = I.Q. (बौद्धिकता), E.Q. (संवेदनशीलता) एवं S.Q. (आध्यात्मिकता) का योगदान उत्तरोत्तर अधिक (शांति - सफलता = I.Q. < E.Q. < S.Q.)	19
3) जीवों के संक्षेप से भेद - 14 जीव समास	37
4) 14 मार्गणा (जीवों के सविस्तार अनुसंधान)	40
5) आध्यात्मिक विकास सिद्धान्त S.Q. से परम विकास है तो पतन उसके अभाव से (+ S.Q. = विकास, - S.Q. = पतन)	44
6) परम विकास एवं परम सफलता जीव के सिद्ध स्वरूप एवं उर्ध्वर्गमन स्वरूप	53
7) पर-शोषणाश्रित बाह्य दुःखप्रद नश्वर वैभव तो - स्व-पोषणाश्रित अंतरङ्ग सुखप्रद अविनश्वर वैभव	58
8) विज्ञान का सदुपयोग जीव एवं धर्म के लिए भी उपकार है	75

**1 द्रव्य- स्वभाव से जीव-जगत् का सद्ब्राव-विकास है
- न कि -**

ईश्वर कर्तृत्व से या डार्विन के विकासवाद से

देश-विदेश के विभिन्न प्राचीन साहित्यों से लेकर आधुनिक विभिन्न साहित्यों के अध्ययन से तथा प्रचलित देश-विदेशों के धार्मिक- दार्शनिक, वैज्ञानिक, सम्प्रदायों में जीव, ब्रह्माण्ड, परमात्मा के बारे में भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर, सिद्धान्त, तर्क, वितर्क, चिन्तन पाये जाते हैं। उनमें से मैं (आचार्य कनकनंदी) यहाँ पर 1) ईश्वर कर्तृत्ववाद/ विशेष सृजन (इटेलीजेंट डिजायन) बुद्धिमता पूर्ण सृजन 2) वैज्ञानिक डार्विन का विकासवाद यानी प्राकृतिक चयन का सिद्धान्त या जीवन संघर्ष के सिद्धान्त को 3) द्रव्य स्वभाव से जीव-जगत् का सद्ब्राव- विकास सिद्धान्त की दृष्टि से संक्षेप- समीक्षा एवं समन्वय करूँगा। विशेष जिज्ञासु मेरी 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा आदि इस सम्बन्धी 8-10 कृतियों का अध्ययन करें।

द्रव्य स्वभाव सिद्धान्त- प्रीकृ दार्शनिक अरस्तू ने 2350 वर्ष पूर्व ही ईश्वर सुष्ठु कर्ता वाद को नकार कर “स्वतःजनन” सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। भारत में भी जैन तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध, गीता में नारायण श्री कृष्ण, सांख्यदर्शन (महर्षि कपील) आदि ने भी ईश्वर कर्तृत्व वाद के परिवर्तन में “द्रव्य- स्वभाव सिद्धान्त” का प्रतिपादन किया है। इन सब के आधार पर तथा आधुनिक विभिन्न विज्ञान तथा मेरे प्रायोगिक अध्ययन- अनुभव के माध्यम से इस शोध पूर्ण विषय को लिख रहा हूँ।

लोगो अकिञ्चिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वतो ।

जीवाजीवेहि फूडो सव्वागास अवयवो णिच्चो ॥ त्रि. सा.

निश्चय से लोक अकृतिम, अनादिनिधन, स्वभाव से निष्पन्न, जीवाजीवादि द्रव्यों से सहित, सर्वाकाश अवयव स्वरूप और नित्य है।

किन हूँ न करौ न धरे को, षट् द्रव्यमयी न हरै को ।

सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता ॥

इस शाश्वतिक, प्राकृतिक पष्ट द्रव्यमयी विश्व में यह मूढ़ प्राणी वीतरागमय शांत रूप से रहित होकर विभिन्न दुःखों को सहता हुआ सतत परिभ्रमण कर रहा है। यह विश्व भौतिक, आध्यात्मिक आदि भेद से अनेक प्रकार है। भौतिक दृष्टिकोण से इस विश्व के चार भेद हैं- 1) अधोलोक 2) मध्यलोक 3) ऊर्ध्वलोक 4) सिद्धलोक। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से चार प्रकार का है- 1) पाप (नरक, तिर्यक) 2) पुण्यपाप (मनुष्य)

३) पुण्य (देव) ४) पुण्यपापातीत (शुद्ध आत्मलोक अर्थात् सिद्ध)।

पावेण गिरिय तिरिय गुम्भई धम्मेण देव लोयं तु।
मिरसेण माणुसतं दोण्णंपि खयेण गिव्वाणं ॥

पाप कर्म से नरक-तिर्यश्च गति, पुण्य से देवगति, पुण्य-पाप मिश्रण से मनुष्य गति एवं पुण्य- पाप दोनों के क्षय से पंचम गति-सिद्ध गति प्राप्त होती है। द्रव्य कर्म साक्षात् पुद्गल होने से जड़ पर द्रव्य है। परन्तु द्रव्य कर्म रूपी पुद्गल से उत्पन्न राग-द्वेष, मोह कामादिक भाव भी एक अपेक्षा से पौद्गलिक हैं। कर्म से प्रेरित होकर जीव का संसार में विभिन्न प्रकार के अभिन्न यथा कारण यह विश्व रूपी रंगमंच में आध्यात्मिक दृष्टि से जड़ भौतिक वस्तु ही नृत्य करती है, भगवान् आत्मा नहीं क्योंकि शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् आत्मा का स्वभाव साक्षी स्वरूप, दर्शक स्वरूप, ज्ञाता- दृष्टा है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि न लोकस्य सृजति प्रभु ।

न कर्मफलं संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (गीता, श्री कृष्ण)

परमेश्वर भी भूत-प्राणियों के न कर्तापने को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के सहयोग को वास्तव में रखता है किन्तु स्वभाव के सकाश (कारण) से ही प्रकृति ही वर्तती है। अर्थात् गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं।

ना दत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुहान्ति जन्तवः ॥

सर्वव्यापी परमात्मा किसी के पाप कर्म को और किसी के शुभ कर्म को भी न ग्रहण करता है किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

तदेतत्कर्म वैचित्र्याद् भवन्नानात्मकं जगत् ।

विश्वकर्माणिमात्मानं साधयेत् कर्मसारथिम् । आदिपुराण

इन कर्मों की विचित्रता से अनेक रूपता को प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि शरीर, इंद्रियां आदि अनेक रूप धारी संसार का कर्ता संसारी जीवों की आत्मायें ही हैं। और कर्म उनके सहायक हैं। अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्म के उदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं।

विधिः सृष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् ।

ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ॥ (३७)

विधि, सृष्टा, विधाता, देव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्म रूपी ईश्वर के पर्याय वाचक शब्द हैं। इनके सिवाय और कोई लोक को बनाने वाला नहीं है। कोई एक स्वतन्त्र वस्तु, अन्य कोई एक वस्तु से भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। यदि स्वतन्त्र वस्तु से उत्पन्न मानेंगे तो निम्न प्रकार से दोष उत्पन्न होंगे।

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।

सोऽपि परः परतः स्यादन्यमादिति यतश्च सोपि परः ॥ ११ पञ्चाध्यायी

वस्तु को पर से सिद्ध मानने पर अनवस्था नाम का दोष आता है। अप्रमाणिकाऽनन्त पदार्थ कल्पनयाऽविश्रान्तिरनवस्था। प्रमाण रूप अनंत पदार्थों की उत्तरोत्तर कल्पना करते चले जाने का नाम अनवस्था दोष है। यह दोष पदार्थ सिद्धि से सर्वथा बाधक है। एक पदार्थ की उत्पत्ति दूसरे पदार्थ से, दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति तीसरे पदार्थ से, तीसरे पदार्थ की उत्पत्ति चौथे पदार्थ से, चौथे पदार्थ की उत्पत्ति पांचवें पदार्थ से इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनंत पदार्थ तक कल्पना करते जाइये किन्तु अन्त नहीं होगा। जहाँ उस कल्पना का अन्त होगा वहाँ पुनः प्रश्न खड़ा होगा कि यह कहाँ से उत्पन्न हुआ? उसके लिए पुनः दूसरे पदार्थ की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार कहीं भी उस कल्पना का वास्तविक साधन एवं विश्रांति नहीं होगी। इसी प्रकार जब पृथ्वी से जल की सृष्टि हुई, जल से तेज, तेज से वायु, वायु से आकाश, आकाश से ब्रह्म की सृष्टि हुई। पुनः प्रश्न होता है कि ब्रह्म की सृष्टि किससे हुई? उसका उत्तर-ब्रह्म अनादि निधन है। उसकी न उत्पत्ति होती है न नाश होता है। तब अन्य द्रव्य को भी अनादि निधन मानने में अर्थात् स्वतः: सिद्ध द्रव्य मानने में भी दोष क्या है? दोष के परिवर्तन में गुण दिखाई देता है। वर्तमान वैज्ञानिकों की अपेक्षा भी यह सिद्धान्त मान्य है। Nothing can be created, Nothing can be destroyed but form only changes. सत् वस्तु का नाश नहीं होता है, असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु द्रव्य में परिवर्तन ही होता रहता है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी न किसी सत् वस्तु से उत्पन्न होती है। जिस एक वस्तु में दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे द्रव्य कहते हैं। गुण और द्रव्यों का समुच्चय जगत् है। यह जगत् कार्य- कारण की सत् परंपरा है। प्रत्येक वस्तु या घटना अपने पूर्ववर्ती वस्तु या घटना का कार्य होती है तथा आगे की घटनाओं का कारण। प्रत्येक घटना कार्य-कारण भाव की अनादि एवं अनंत माला (मोती) का एक मनका है। कार्य- कारण भाव के विशिष्ट नियम से प्रत्येक घटना एक दूसरे के साथ बँधी रहती है। ज्ञाता और ज्ञेय अथवा सत् वस्तु नित्य परिवर्तनशील है। वस्तुओं का स्थान बदलता रहता है। उनके घटक बदलते हैं एवं गुण धर्म बदलते रहते हैं किन्तु परिवर्तन का अखण्ड प्रवाह चालू है।

वैज्ञानिक डार्विन ने (1858) पृथ्वी के अलग-अलग स्थानों से एकत्र किए पाठप, प्राणियों व फासिल्स के अध्ययन के माध्यम से यह सिद्ध किया कि भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रिया से सूक्ष्म जीव की सृष्टि हुई तथा प्राकृतिक चयन एवं जीव धारियों के मध्य अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष में से वही जीवित रह पाते हैं जो योग्यतम होते हैं। प्राकृतिक चयन के माध्यम से योग्यतम की उत्तर जीविता सुनिश्चित होती है। इस मतानुसार विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

सब जीव अपना विकास कई प्रकार से करते हैं इन्हें म्यूटेशन कहा जाता है। इन प्रयासों को प्रकृति तीलती है। यदि कोई म्यूटेशन उपलब्ध परिस्थितियों में सफल हो जाता है तब अगले चरण में उसका तीव्र विकास होता है तो और सृष्टि एक कदम आगे बढ़ जाती है।

डार्विन के मत में बहुत बड़े-बड़े निमोक्त सैद्धान्तिक दोष हैं। यथा -जीव सृष्टि के पहले जीवों का अस्तित्व ही नहीं था। अस्तित्व के बिना रसायन परिवर्तन में जीव की सृष्टि मानना। जड़/निर्जीव/अचेतन से जीव/चेतन की सृष्टि मानना। कालक्रम से विभिन्न प्राकृतिक वातावरण से एक प्रकार की जीव-प्रजाति का अन्य जीव प्रजाति में परिवर्तन होना। संघर्ष से (खूनी संघर्ष, विघ्वंसात्मक संघर्ष, एक प्रजाति या जीवों को नष्ट या भक्षण) से जीवित रहना तथा विकास करना मानना आदि। कुछ विषयों की समीक्षा पूर्वोक्त है।

कुछ की समीक्षा अग्र लिखित है। कालक्रम से विभिन्न प्राकृतिक वातावरण में जीवित एक प्रजाति अन्य प्रजाति नहीं बन सकती है। जैसा कि आम का वृक्ष गेहूँ या मनुष्य। बन्दर मनुष्यों के पूर्वोज नहीं है। पूँछ यदि काल क्रम से विलीन हो जाती है तो अभी सभी बन्दरों में पूँछ हैं और वर्तमान के अरबों मनुष्यों में पूँछ नहीं हैं। काल, वातावरण की विभिन्नता के कारण थोड़ा बहुत भिन्नता हो सकती है। जैसा कि आफ्रिका, अमेरिका, भारत, चीन आदि देश के मनुष्यों में संरचना, भाषा आदि में भेद। परन्तु यह संभव नहीं है कि इन देशों के मनुष्यों के हाथ-पैर की सामान्य संरचना एवं स्थान अलग-अलग हो। यह भी संभव है कि देश एवं काल भेद से शरीर एवं उस के अवयव छोटे-बड़े हो सकते हैं। परन्तु यह संभव नहीं कि पूर्वज बन्दरों में जो पूँछ थी वह इनके उत्तरवर्ती वंशज मनुष्य में पूँछ गयब हो गई। किसी निश्चित जीव तो मरकर बन्दर से मनुष्य बन सकता है और मनुष्य भी मरकर बन्दर बन सकता है; इसी प्रकार यथा योग्य अन्य जीवों में भी संभव है परन्तु पूर्ण प्रजाति ही प्रजाति कालक्रम से अन्य प्रजाति रूप में परिवर्तित जीवितक्रम में जीवित रूप में हो जाती है- यह असंभव है। यदि ऐसा होता जो मगर मच्छ 26 करोड़ वर्षों से, काकोरोच 30 करोड़ वर्ष से है, दीमक, डायनासोर के समय (10 करोड़ वर्ष पूर्व) थे, अभी है और 20 करोड़ वर्ष बाद तक भी रहेंगे, कुछ कीट-पंतंग, कनखजूर, तिलचट्टे, कॉक्रोच आदि 34 करोड़ वर्षों से हैं। जबकि बन्दरों की उत्पत्ति तीन करोड़ वर्ष पूर्व हुआ था और बन्दर से 50-60 लाख वर्ष पहले मानव का तथा 1-2 लाख वर्ष पूर्व नियण्डर थल और होमसोपियन (आधुनिक मानव) का विकास हुआ तब जो जीव 20 से लेकर 34 करोड़ वर्ष या इससे अधिक काल से है उस में ऐसा परिवर्तन क्यों नहीं? उन्हें तो अभी तक सुपरमेन (आधुनिक मनुष्य से भी श्रेष्ठ) बन जाना चाहिए था। परंतु ऐसा तो इस पृथ्वी पर नहीं पाये जाते हैं। 22 करोड़ वर्षों से टेलपुल झिंगा में कोई परिवर्तन नहीं

है। यह सब वैज्ञानिकों के द्वारा प्रमाणित किये गये तथ्य हैं। स्वयं डार्विन ने भी कहा था मेरा सिद्धान्त तथा विज्ञान भी परिवर्तन शील है। इसे अन्तिम सत्य नहीं मानना चाहिये। आफ्रिका से मनुष्य का विकास हुआ और वे अन्य देश में फैल गये हैं इसका भी पूर्ण प्रमाण वैज्ञानिकों के पास नहीं है। यह सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, पुरुषार्थ, कर्म, बाह्य वातावरण, आवश्यकता के अनुसार होता है। यदि ऐसा न होकर डार्विन के मतानुसार होता तो मगर-मच्छ, दीमक, कुछ कीट पंतंग आदि का अस्तित्व इतने दीग्र काल तक यथावत् कैसे हैं? अलग-काल - अलग क्षेत्र/परिसर में भी परिवर्तन क्यों नहीं हुआ? जीवों के विभिन्न भेद-भ्रेद के मूल भूत कारण कर्म परमाणु हैं। इस कर्म के कुछ सविस्तार वर्णन निमोक्त है-

1) ज्ञानावरणीय- जैसे- दर्पण के ऊपर धुली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य के सन्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है वैसे ही इस कर्म से ज्ञान छिप जाता है। कुछ घटने पर कुछ ज्ञान होता है और पूर्ण हटने/ नष्ट होने पर पूर्ण ज्ञान होता है।

2) दर्शनावरणीय- सामान्य सत्ता अवलोकन रूप अन्तः चेतना रूपी प्रकाश को आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म। जैसे द्वारपाल, राजा, मंत्री आदि मालिक को देखने नहीं देता अर्थात् देखने के लिये रोक देता है। उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देता है।

3) वेदनीय- इन्द्रिय का अपने -अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें सुख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है तो दुःख रूप अनुभव असाता वेदनीय है। उस सुख- दुःख का अनुभव जो करावे वह वेदनीय कर्म है।

4) मोहनीय कर्म- जो जीव को मोहित करें वह मोहनीय कर्म है। इस दृष्टि से मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में दो भेद हैं। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्रगुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

5) आयु कर्म- जिस कर्म के उदय (प्रभाव, परिणाम, शक्ति) से जीव नारकादि पर्यायों को प्राप्त होता है, नारकादि भवों में वास करता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल व काष्ठ के यन्त्र के समान है। जैसे- सांकल अथवा काष्ठ का यन्त्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता।

6) नाम कर्म- नाम कर्म गति आदि अनेक भेद से प्रकार का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर, शरीर के अवयव,

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

इन्द्रियों, शरीरके आकार-प्रकार आदियों का निर्माण होता हैं शुभ नाम कर्म से सुन्दर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुन्दर हीनाङ्ग, विकलाङ्ग सहित शरीर की प्राप्ति होती है। इसके विशेष वर्णन निम्नोक्त हैं-

- 1) गति- जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यक, मनुष्य या देव अवस्था को प्राप्त होता है उसे गति नाम कर्म कहते हैं। 2) जाति- जिस कर्म के उदय से जीव एकनिंद्रिय, द्विनिंद्रिय, त्रीनिंद्रिय, चतुनिंद्रिय और पञ्चनिंद्रिय इन पाँच जातियों में उत्पन्न हो उसे जाति नाम कर्म कहते हैं। 3) शरीर- जिस कर्म के उदय से औदारिक, वैक्रियक, आहरक, तेजस और कार्मण इन शरीरों की रचना के योग्य परमाणुओं की प्राप्ति हो उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं। 4) अङ्गोपाङ्ग- जिस कर्म के उदय से अङ्गों तथा उनके अवयवभूत उपाङ्गों की रचना हो। 5) बन्धन- जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त हों। 6) संघात- जिस कर्म से शरीर की आकृति विशेष की रचना होती है। 7) संहनन- जिस कर्म के उदय से संहनन- हड्डियों की रचना होती है- उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। 8) स्पर्श- जिस के उदय से शरीर में स्पर्श की रचना हो उसे स्पर्श नाम कर्म कहते हैं। इसके कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण ये आठ भेद हैं। 9) रस- जिसके उदय से शरीर में रस की रचना हो उसे रस नाम कर्म कहते हैं। इसके मधुर, कटु, तिक्क, और कषायला ये पाँच भेद हैं। 10) वर्ण- जिसके उदय से शरीर में वर्ण की रचना हो उसे वर्ण नाम कर्म कहते हैं। इसके शुक्ल, कृष्ण, नीला, लाल और पीला ये पाँच भेद हैं। 11) आनुपूर्वी- जिसके उदय से विग्रहगति में जीव के प्रदेशों का आकार पूर्व शरीर के समान रहता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। 12) उपधात- जिसके उदय से अपना ही धात करने वाले अङ्गोपाङ्गों की रचना हो उसे उपधात नाम कर्म कहते हैं। 13) परधात- जिसके उदय से दूसरों का धात करने वाले अङ्गोपाङ्गों की रचना हो उसे परधात नाम कर्म कहते हैं। 14) अगुरुलघु- जिसके उदय से ऐसे अङ्गोपाङ्गों हो जो न भारी हो न लघु हो। 15) उच्छ्वास- जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है। 16) आतप- जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल तो शीत रहे परन्तु प्रभा उष्ण हो। 17) उद्योत- जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल और प्रभा दोनों ही शीतल रहें। 18) विहायोगति- जिसके उदय से आकाश में गति हो उसे विहायोगति नाम कर्म कहते हैं। 19) प्रत्येक शरीर- जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके एक जीव स्वामी हो। जैसा कि आम का वृक्ष 20) साधारण शरीर- जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके अनेक स्वामी हो जैसा कि निगोदिया 21) त्रस- जिसके उदय से जीव का द्विनिंद्रियादि जीवों में जन्म होता है। 22) स्थावर- जिसके उदय से एकनिंद्रिय जीवों में जन्म हो। 23) पर्याप्ति- जिसके उदय से पर्याप्ति की पूर्णता होती है। 24) अपर्याप्ति- जिसके

उदय से एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो अर्थात् पूर्ण होने के पहले ही मृत्यु हो। 25) बादर- जिसके उदय से बादर-दूसरों को रोकने वाला तथा दूसरों से रुकने वाला शरीर प्राप्त हो। 26) सूक्ष्म- जिसके उदय से सूक्ष्म-दूसरों को नहीं रोकने वाला तथा दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर प्राप्त हो। 27) शुभ- जिसके उदय से शरीर के अवयव शुभ हो। 28) अशुभ- जिसके उदय से शरीर के अवयव अशुभ हो। 29) स्थिर- जिसके उदय से शरीर की धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें। 30) अस्थिर- जिसके उदय से शरीर की धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहे। 31) सुस्वर- जिसके उदय से अच्छा स्वर प्राप्त हो। 32) दुःस्वर- जिसके उदय से अच्छा स्वर प्राप्त न हो। 33) सुभग- जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो अन्य लोगों को प्रीति उत्पन्न करने वाला हो। 34) दुर्भग- जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो रूपादिगुणों से युक्त होने पर भी दूसरों के लिए प्रीति उत्पन्न करने वाला न हो। 35) आदेय- जिसके उदय से शरीर एक विशिष्ट प्रकार की प्रभा से सहित हो। 36) अनादेय- जिसके उदय से शरीर विशिष्ट प्रभा से सहित न हो।

- 7) गोत्रकर्म- कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है, अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। जिस कुल परम्परा में उँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निंदा आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है।
- 8) अन्तरायकर्म- दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे व जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि-दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, इच्छा से पाराइ मुख हो जाय, वह अन्तराय कर्म है। उपरोक्त सिद्धान्त की ओर आधुनिक जीनोम/D.N.A., R.N.A. सिद्धान्त धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इन सब विषयों का ज्ञान डार्विन को नहीं था अतएव उसने जो थोड़ा देखा, अनुमान लगाया, परिकल्पना की उस के अनुसार उसने अपना एक अभिप्राय प्रकट किया है। आधुनिक अनेक वैज्ञानिक, वैज्ञानिक प्रमाण/साक्षी डार्विन के मत को भी नकारते हैं। महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिक जैन तीर्थकर्तोंने “परस्परोपग्रहो जीवानाम्” जिओ और जीने दो का सिद्धान्त दिया तो महात्माबुद्ध ने करुणा का संदेश दिया, भारतीय संस्कृति में “बसुधैव कुटुम्बकम्” का महान् आदर्श दिया जिस का अनुकरण वर्तमान में पर्यावरण सुरक्षा, पारिस्थितिकी, विश्व-शांति, विश्व-मैत्री, संयुक्त राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद, मानवाधिकार आयोग से लेकर पशु कल्याण आदि सब कर रहे हैं। तब डार्विन के संघर्षवाद को हम केवल वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय वैश्विक-शान्ति- सौहार्द-समन्वय - सहयोग, सहअस्तित्व- सहजीवी की दृष्टि से भी कैसे स्वीकार कर सकते हैं? भले डार्विन का सिद्धान्त कुछ निम्न स्तरीय जीवों से लेकर विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

हिंस जंगली जीवों में तथा समुच्छन जीवों में आंशिक- रूप से सही हो तथापि सर्वांगीण रूप से तथा उत्तम जीव जगत् के लिए असत्य है , अनुपयोगी है, अनादर्श है, अनुकरणीय नहीं हैं। परम विकास एवं सुख-शान्ति के कारण निम्नोक्त है-

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छरीरमौषधेः ।

एतद्विज्ञान सामर्थ्यं, न बालेः समतामियात् ॥(महाभारत)

प्रज्ञा (प्रकृष्ट-सम्प्यक् I.Q) के द्वारा मानसिक दुःख को दूर करना चाहिए । शारीरिक दुःख/रोग को औषधि से दूर करना चाहिए। श्रेष्ठ ज्ञान (E.Q., S.Q. से युक्त I.Q.) के सामर्थ्य से मनुष्य इन कष्टों से बच सकता है, अतः इस ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए किन्तु मूढ़ व्यक्तिओं के समान कष्टों में नहीं पड़े रहना चाहिए। इसलिए ऐसे ज्ञान को परम प्रकाश, परम शक्ति, परम अमृत कहा है। इस ज्ञान से युक्त परम पुरुषार्थ से जीव उपर्युक्त कर्मों को दुर्बल, निजीण, क्षीण, नष्ट करके स्वात्मा में निहित अनन्त-अक्षय ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणों की उपलब्धि कर लेता है। यह ही जीव का परम विकास है, सम्पूर्ण सफलता है, पूर्ण-सुख-शांति की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त महात्माओं का विश्व को दिव्य संदेश है कि यह अवस्था ही परमावस्था है अतः इसके आगे और कोई अवस्था शेष नहीं हैं जिसे कोई-कभी भी प्राप्त कर सकता है, यह ही अन्तिम गति है, जिस गति के बाद पुनः कोई गति/परिवर्तन नहीं होता है; यह ही परम ज्ञान है, जिसके बाद और कोई ज्ञान शेष नहीं बचता है, यह ही परम-सुख-शांति है जिस के आगे और कोई सुख-शांति अवशेष नहीं है; यह ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ सफलता है।

1) बिंगबैंग (महा विस्फोट सिद्धान्त) 10 अरब वर्ष पूर्व या 13.½ अरब वर्ष पूर्व या 14 अरब वर्ष पूर्व या 15 अरब वर्ष पूर्व के पहले ब्रह्माण्ड की स्थिति/ स्वरूप क्या था तथा किस निश्चिय समय पर यह हुआ इस के लिए कोई ठोस प्रमाण एवं कारण वैज्ञानिकों को परिज्ञान नहीं हैं। ट्रींग थ्योरी, थ्यूनीफाईड थ्योरी (एकीकृत सिद्धान्त, मास्टर थ्योरी) जो कि अत्याधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त है, इस के अनुसार ब्रह्माण्ड पहले से ही है। विश्व सृष्टि सिद्धान्त को देश-विदेश के अनेक वैज्ञानिक गलत मानते हैं। इस सम्बन्धी मेरी चर्चा अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक नालींकर से भी हुई है। यह चर्चा मेरी- कौन है विश्व का कर्ता- धर्ता- हर्ता? पुस्तक में प्रकाशित है।

2) देश-विदेश के अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक मानते हैं कि अभी विज्ञान सत्य के रास्ते पर होते हुए भी आंशिक सत्य को ही जान पाया है, परम सत्य को नहीं। एक बिन्दु पर भौतिक विज्ञान बेकार हो जाता है; इस के आगे दर्शन आता है और दर्शन के आगे आध्यात्मिक कार्य करता है।

3) 40 लाख वर्ष पूर्व मनुष्य चिंपाजी से पृथक् हुआ था। 50 लाख वर्ष पहले मनुष्य

का मस्तिष्क चिंपाजी जितना बड़ा था परन्तु मनुष्य दो पैर से चलने के बाद मस्तिष्क बड़ा हुआ। चिंपाजी से भिन्न परिवर्तन में जलवायु कारण बनी। मनुष्य समूह से रहने से मनुष्य का मस्तिष्क चार गुना बढ़ गया। दो लाख वर्ष पहले मनुष्य ने भाषा सीखा। 35 हजार वर्ष पूर्व मनुष्य पाषाण युग का था। यह वैज्ञानिक मान्यता है। यदि यह संभव होता तो अभी चिंपाजी अस्तित्व में नहीं होते। क्योंकि वे ही तो (चिंपाजी प्रजाति) क्रम विकास करते हुए मनुष्य बन गये। अभी भी विद्यमान चिंपाजी के मस्तिष्क स्वर यंत्र आदि में परिवर्तन क्यों नहीं? इसी प्रकार एक अरब से जेली फिस (प्रारंभिक जीव) है तो 10 करोड वर्ष से कैंकड़ों आदि कवच वाले जीव हैं, 37 करोड वर्ष से सरीसृप हैं तो वे सब क्रम विकास करते हुए मनुष्य क्यों नहीं बने? यदि डार्विन का मत पूर्ण सत्य होता तो प्रारंभिक के सब जीव पृथकी में न होते परन्तु मनुष्य ही मनुष्य होते जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है।

4) वैज्ञानिकों को पूर्णतः यथार्थ से जान नहीं है कि चेतना (ज्ञान, दर्शन, आत्मा, परमात्मा) क्या है? कब से है? कैसे है? कब तक रहेगी? क्या करती है? कैसे करती है? आदि-आदि। वे चेतना को भौतिक/रासायनिक तत्व की एक अवस्था विशेष/शक्ति विशेष मानते हैं जो कि मूल में ही भूल है।

5) ईश्वर कतृत्व एवं डार्विन के मत में और भी दोष-है-यथा 1) यदि सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म से संपूर्ण चराचर जगत् का निर्माण हुआ है तो जगत् की समस्त रचनायें/ वस्तु/ कृति सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म ही होता है। जैसा कि मिट्टी की समस्त सामग्री मिट्टीमय होतीं, तथा लोहा की लोहमय। परन्तु संसार में जड़, चेतन, मूर्तिक-अमूर्तिक, शुभ- अशुभ, पापात्मा-पुण्यात्मा, सुखी- दुःखी आदि की उपलब्धि होती है?

6) यदि ब्रह्माण्ड का निर्माण केवल भौतिक वस्तु (परमाणु, गैस पिण्ड आदि) से हुआ है तब ब्रह्माण्ड में जो वनस्पति से लेकर मनुष्य तक चेतनयुक्त जीव उपलब्ध हैं यह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि जडात्मक भौतिक निर्जीव द्रव्य से चेतनात्मक द्रव्य का निर्माण या क्रम विकास नहीं हो सकता है।

7) यदि पहले ब्रह्माण्ड नहीं था और ईश्वर ने निर्माण किया तो ईश्वर कहाँ और कब से था? ब्रह्माण्ड के अनंत सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, पशु-पक्षी, जीव- जन्तु, मनुष्य को निर्माण करने योग्य तत्व (कच्चा माल) कहाँ था? कब से था? यदि ईश्वर पहले से (अनादि से) है तो अन्य सब पहले से ही होने में क्या दोष है? यदि सूर्य आदि के मूल तत्व पहले से हैं तो सूर्य से लेकर जीव तक पहले से होने में क्या दोष है?

8) यदि सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, अन्तर्याती, दयालु, न्यायशील ईश्वर ने समस्त जड़ चेतनात्मक संसार का निर्माण किया तो संसार में विषमता, संघर्ष, हिंसा, अभाव, हत्या, गरीबी, रोगी, शोषक-शोषित आदि दुःख पूर्ण, अन्याय पूर्ण, क्रूरता से युक्त कार्य क्यों

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

पाये जाते हैं ? यदि माना जावे कि स्व-स्व कर्मनुसार जीव उन-उन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब पहली बार ईश्वर जीवों को उत्पन्न किया था तो उस समय में क्या समस्त जीवों को पवित्र बनाया था या अपवित्र ? यदि पवित्र बनाया था तो वे अपवित्र कैसे बने ? जिस से वे सब उस पापकर्म के कारण दुःखी बने ? यदि पहले सभी को अपवित्र बनाया था तो ऐसे पवित्र ईश्वर में अपवित्र जीवों को पवित्र भाव से बनाया अपवित्र भाव से बनाया ? पवित्र ईश्वर में अपवित्र भाव क्यों ? और कैसे तथा कब आया ? दूसरों के भावों में अपवित्र उत्पन्न कराके क्या ईश्वर ने अपने महान् गुणों के विपरीत कार्य नहीं किया ? दूसरों के भावों में अपवित्रता जगाकर उनसे पाप करवाकर उन्हें दुःख देना या भोगने के लिए कारण बना क्या यह ईश्वरीय महान् गुणों के योग्य है ? (क्योंकि ईश्वर कर्तावाद में ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है ।) यदि ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रथमतः ही पवित्र, विषमता रहित, सुखमय बनाता तो उससे क्या हानि होती ? क्या ऐसा बनाना ईश्वर की शक्ति के बाहर का काम था ? यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा दयालु कैसे हो सकते हैं ? क्या दूसरों के दुखों से ईश्वर को अच्छा लगता है ? आनन्द अनुभव होता है ? उनके क्रिया भाव को सन्तुष्टि मिलती है ? संसार को दुःखमय बनाने से क्या ईश्वर को या संसार के दुःखी प्राणियों को कोई लाभ है ? यदि कहा जावे कि संसार में दुःख नहीं है तो जो ऋषि-मुनि, संत, धर्म प्रचारक पहले से कह रहे हैं और ग्रथों में लिखे हैं तथा अनुभव में आता है कि संसार के प्राणी किसी ना किसी रूप से दुःख का अनुभव करते हैं जब तक कि वे कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो जाते हैं तो यह सब क्या मिथ्या है ? यदि माना जावे कि शिक्षा देने के लिए ईश्वर दुःख देते हैं । दयालु, सर्वशक्तिमान ईश्वर दुःख देकर शिक्षा क्यों देते हैं ? सुख देकर शिक्षा क्यों नहीं दे पाते हैं ? दुःख देकर शिक्षा देने पर क्या उसकी दयालुता के कारण उन्हें दुःख नहीं होता है या दयालुता में दोष नहीं लगता है ? यदि माना जावे कि दुःख देकर ही शिक्षा दे पाते हैं - तब तो उनके सर्वशक्तिमानपने में दोष लगता है क्योंकि जो सर्वशक्तिमान होगा तो वह समस्त प्रकार से काम कर सकता है । इससे शिद्ध होता है कि सर्वशक्तिमान, दयालु, सर्वज्ञ, आनन्दमय, अन्तर्यामी ईश्वर द्वारा यह विश्व तथा विश्व के प्राणी निर्मित नहीं है । यदि ऐसा होता तो समस्त विश्व तथा विश्व के प्राणी सब व्यवस्थित, सच्चिदानन्दमय, दयालु, ज्ञानी, विषमता / समस्याओं से रहित होते परन्तु विश्व तथा विश्व के प्राणी इससे विपरीत भूकम्प, अतिरूपि, अनावृष्टि, बाढ़, अकाल, विघ्न, युद्ध, कलह अशान्तमय, समस्यापूर्ण, दुःखी, रोगी, संत्रस्त, भयभीत, परस्पर को कष्ट देने वाले पाये जाते हैं । यदि ईश्वर ने ही समस्त जीवों को बनाया है और उनकी इच्छा/प्रेरणा से ही सब कुछ होता है तो वे प्राणियों को परस्पर में क्यों लड़ाते हैं ? दुःख देते हैं ? चोरी, दगबाजी, डकैती, हत्या, बलात्कार, युद्ध आदि करवाते हैं ? क्या चोर को

चोरी करने के लिए कहते हैं ? प्रेरित करते हैं और मालिक को जगने के लिए/रक्षा/चिरोध करने के लिए कहते हैं ? ऐसा विरोधात्मक कार्य कराके वे स्व-पर को क्या लाभ पहुँचाते हैं ? क्या शिक्षा देते हैं ? क्या आदर्श प्रस्तुत करते हैं ? इससे विपरीत सत्य, सद्बुद्धि, समशक्ति, समसुख, समाधान से सम्पन्न कराके सबको सुखी क्यों नहीं बनाते ?

9) ईश्वर ही सब कुछ के कर्ता है मानने पर दुःख, हानि, रोग, युद्ध, कलह, बलात्कार, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार आदि को भी ईश्वर की इच्छा/कृति मानकर उसे उचित मानना पड़ेगा और दूर करने का पुरुषार्थ नहीं होगा तथा पुरुषार्थ करने पर भी कुछ भी दूर/परिवर्तन/ कमी नहीं हो सकेगा क्योंकि सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा का परिवर्तन कैसे और कैन कर सकता है ? जो करेगा वह ईश्वर दण्ड/ कोप का भागी भी बनेगा तब तो सेवा करने वाले, औषधिदाता, धर्म-शान्ति, नीति, सदाचार के उपदेशक न्यायकर्ता, अभ्यदाता सब ईश्वरीय विधान के विरोधी होंगे तथा ईश्वर के घोर शत्रु होंगे परन्तु इन्हें ईश्वर का भक्त/धार्मिक माना जाता है । युद्ध, चोरी आदि करने वाले ईश्वर के सेवक, भक्त, आज्ञाकारी सिद्ध होंगे । क्योंकि इन युद्ध आदि की इच्छा / प्रेरणा/ सृष्टि तो ईश्वर करता है और उनकी इच्छानुसार चोर आदि उस कार्य को करके ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करते हैं परन्तु इन्हें पापी/ अधार्मिक/ ईश्वर द्वारा ही माना जाता है ।

10) ईश्वर कर्तावाद के संपूर्ण दोष विश्व तथा जीवों के प्राकृतिक, शाश्वतिक, परिवर्तशील तथा स्व-स्व कर्म सिद्धान्तों में नहीं है । विश्व प्राकृतिक जड़ चेतनात्मक द्रव्य से अनादि से अनंत तक सतत परिवर्तनशील रूप में रहेगा । संसार के प्रत्येक प्राणी स्व-स्व भाग्य तथा पुरुषार्थ से दुःख-सुख अनुभव करते हैं । आध्यात्मिक साधना के बल पर समस्त कर्म को नष्ट करके सच्चिदानंद स्वरूप बन जाते हैं । इसके बाद वे संसार के किसी भी कार्य में प्रवृत नहीं होते हैं । इसका विस्तृत वर्णन मैंने 'कर्म का दर्शनिक वैज्ञानिक विश्लेशण', 'पुण्य पाप मीमांसा', 'भाग्य एवं पुरुषार्थ' आदि में किया है । विशेष जिज्ञासुओं के लिए अध्ययन योग्य हैं । इस कृति में भी सामान्य वर्णन किया गया है ।

11) वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व तथा समस्त प्राणी प्राकृतिक तथा शास्वतिक होने पर भी समन्वयात्मक, उदार, अनेकान्तात्मक दृष्टि से कथंचित् कर्तावाद भी सत्य है । जिसका दिग्दर्शन निम्नानुसार है- एक सम्प्रदाय कहता है कि जगत् का कर्ता ईश्वर है तो दूसरा कहता है कि जगत् का कर्ता नहीं है । निः संदेह इन दोनों में से कोई एक असत्य है परन्तु समझने की बात यह है कि इन दोनों वादों का लक्ष्य क्या है ? ईश्वर कर्तृत्ववादी कहता है कि यदि तुम पाप करोंगे तो ईश्वर तुम्हें दण्ड देगा, नरक में भेजेगा, और यदि तुम पुण्य करोंगे तो वह प्रसन्न होगा, सुख देगा, स्वर्ग में भेजेगा । ईश्वर कर्तृत्व का विरोध करने वाले जैन आदि कहते हैं कि यदि तुम पाप करोंगे तो अशुभ का बंध होगा, खाए हुए अपथ्य

भोजन की भौति इसका (अशुभ कर्म का) दुःख रूप तुम्हें मिलेगा, तुम्हें दुर्गति में जाना पड़ेगा; परन्तु यदि तुम पुण्य करोगे तो तुम्हें शुभ-पुण्य कर्म का उपार्जन होगा, खाये हुए पथ्य भोजन की तरह (शुभ कर्म) तुम्हें सुखदायी होगा। एक धर्म संप्रदाय मनुष्यों को ईश्वर कर्तृत्ववादी बनाकर जो काम करना चाहता है वही काम दूसरा धर्म संप्रदाय उन्हें कर्तृत्व मत का विरोधी बनाकर करना चाहता है। इसमें देखना तो यह चाहिए कि धर्म में (धर्म के मुद्दे में) भिन्नता तो आयी नहीं। अच्छे काम का अच्छा और बुरे काम का बुरा परिणाम मिलने के बारे में सभी का एकमत ही है तब भिन्नता फल की मार्ग सरणी की विचारणा में आयी। यह भिन्नता ऐसे विशेष महत्व को क्यों गिनी जानी चाहिए कि विरोध जनक के रूप में परिणाम हो? विरोध तो वहाँ हो सकता है जहाँ दोनों का उद्देश्य एक नहीं है। ईश्वर कर्तृत्ववादी को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से अपथ्य माने तो भी वह अधर्म (अर्थम् प्रेरक) तो नहीं कहा जा सकता। बुद्धि की अपेक्षा जिनकी भावुकता सविशेष है उन्हें ईश्वर कर्तृत्ववाद अधिक प्रिय और उपयोगी लगता है। वे ऐसा विचारने लगते हैं कि ईश्वर के भरोसे सब कुछ छोड़ देने से निश्चित हुआ जा सकता है। इसके फलस्वरूप कर्तृत्व का अहंकार उत्पन्न नहीं होता और ईश्वर कर्तृत्व तर्क सिद्ध न होने से उसे अकर्तवादी नहीं मानते। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वर को कर्ता न मानकर स्वावलम्बी बनना और आत्म बल एवं निज पुरुषार्थ को विकसित करने में जागृत रहना आवश्यक है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील होना ही अधिक श्रेयस्कर है। उनका मंतव्य है कि हमारे पार्षों को क्षमा करने वाला कोई नहीं है अतः हमें स्वयं पापाचरण से डरते रहना चाहिए। इस पर से हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ईश्वर कर्तृत्व को जो मानते हैं वे उसे इसीलिए मानते हैं कि मनुष्य पाप न करे और जो भी ईश्वर कर्तृत्व वाले को नहीं मानते उनकी मान्यता का सार भी यही है कि मनुष्य पाप ना करे। दोनों का लक्ष्य एक है। प्राणी सदाचारी बनकर सुखी हो यही दोनों का उद्देश्य है।

12) जो ईश्वर कर्तवाद नहीं मानते हैं, परन्तु उत्तम कर्म करते हैं वे सुखी रहते हैं, विकास करते हैं, वे दूसरों को कष्ट नहीं देते हैं और दूसरे भी उन्हें अच्छा मानते हैं। परन्तु ईश्वर कर्तवाद मानने वाले भी जो सुकर्म नहीं करते हैं वे सुखी नहीं रहते हैं। दूसरे भी उसे अच्छा नहीं मानते हैं। अनेक कुकर्मी कर्तवादी जो दुःखी हैं उन्हें ईश्वर सुखी क्यों नहीं बनाते हैं?

13) ईश्वर के नाम पर जो अनेकानेक मत-मतान्तरवाद, विवाद, फूट, कलह, सुख, वैमनस्य, हत्या होती है उसे ईश्वर क्यों नहीं रोकते हैं? क्या ईश्वर को यह सब मालूम नहीं हैं या इसे रोकने में असमर्थ हैं? या यह सब वे करवाते हैं? करने का क्या प्रयोजन है?

उपर्युक्त समस्त दोष ईश्वर कर्तृत्ववाद के परिवर्तन में विश्व अकृतिम परिवर्तनशील, स्वभाववाद तथा प्रत्येक जीव स्व-स्व विश्व का कर्ता-धर्ता-हर्ता-भोक्ता-सिद्धान्त में दूर हो जाते हैं जिसका वर्णन इस कृति में किया गया है।

2) विविध क्रम विकासवाद एवं परम विकासवाद
शांति-सफलता = I.Q. (बौद्धिकता), E.Q. (संवेदनशीलता)
एवं S.Q. (आध्यात्मिकता) का योगदान उत्तरोत्तर अधिक :-
(शांति-सफलता = I.Q. < E.Q. < S.Q.)

सामान्यतः साधारण लोग सुख, शांति, सफलता, विकास आदि के लिए I.Q. (इंटलिजियस कोशेंट, बुद्धिलब्धि, बुद्धिमत्ता, बौद्धिकता, बुद्धि की शक्ति) को E.Q. (इमोशनल कोशेंट, संवेदनशीलता, दूसरों के सुख-दुःख में सहभागीता) तथा S.Q. (सोल/स्वीरीच्युअल कोशेंट, आध्यात्मिकता, पवित्रता, ध्यान, समता) से अधिक महत्व देते हैं। परंतु यथार्थ से शांति-सफलता के लिए बुद्धिमत्ता से अधिक-आवश्यकता है संवेदनशीलता की और इससे भी अधिक आवश्यकता-आध्यात्मिकता की। इस सत्य-तथ्य पूर्ण, सार्वभौम, वैश्विक सिद्धान्त, कार्यकारण भाव को अधिकांशतः साधारण लोग नहीं जानते हैं। इसलिए बुद्धि-वृद्धि के लिए विविध प्रकार के प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्व-विद्यालय, प्रशिक्षण केंद्र, प्रयोगशाला के लिए निर्माण से लेकर अध्ययन-अध्यापन, परीक्षण, निरीक्षण तथा प्रमाण पत्र और मान्यता-प्रतिष्ठा आदि का तो बोलबाला है परंतु संवेदनशीलता एवं आध्यात्मिकता के लिए ऐसा महत्व-या कार्य योजनायें नहीं हैं। जीवन के लिए आवास, वस्त्र, भोजन, औषध, पानी, प्राणवायु की आवश्यकता उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण है इसी प्रकार शांति-सफलता के लिए I.Q., E.Q., S.Q. की आवश्यकता उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण है। परंतु प्राणवायु से लेकर आवास तक उत्तरोत्तर स्थूल होने के कारण उत्तरोत्तर अधिक दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार I.Q., E.Q., S.Q. के लिए भी जानना चाहिए। स्थूल रूप में देखने में आता है और जिसके आधार पर वैज्ञानिक डार्विन ने भी प्रतिपादन किया है कि जिसकी बुद्धि अधिक है, वह अधिक संघर्ष कर पाता है, वह अधिक सफल होता है, अधिक जीता है। परंतु व्यापक, सूक्ष्म, सार्वभौम, वैश्विक दृष्टिकोण से ज्ञात होता है, तीर्थঙ्कर, बुद्ध, साधु-संत, ईसा मसीह, महापुरुषों के चरित्र, प्रवचन एवं ग्रन्थों से बोध होता है, प्राचीन ध्यान ग्रन्थ, आयुर्विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, मनो विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, में सिद्ध होता जा रहा है कि शांति-सफलता के लिए I.Q. से भी E.Q., S.Q. की भूमिका उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण है। स्पष्ट से कहे तो डार्विन के संघर्षमय विकासवाद से श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है संवेदनशील/सहयोगात्मक/सहजीवीमूलक-विकासवाद। इससे भी श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है आध्यात्मिक विकासवाद। सामान्य लोग सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, उपाधि, डीग्री आदि भौतिक, सांसारिक उपलब्धियों को ही सफलता मानते हैं, परंतु वास्तविक

सफलता है शांति की उपलब्धि। शांति के बिना उपर्युक्त सफलता से सुख-चैन-संतुष्टि, तभी नहीं मिल सकती है और सत्ता, संपत्ति आदि के बिना भी शांति की उपलब्धि से सुख आदि का अनुभव होता है। जिस प्रकार सेठ-साहुकार, राजा-महाराजा आदि को जो सुख-शांति नहीं मिलती है परंतु वे ही जब सर्व त्याग करके सच्चे साधु-संत बनते हैं तब उन्हें पहले से भी अधिक सुख-शांति मिलती है। उदाहरणतः गृहस्थ राजकुमार से लेकर चक्रवर्ती की अवस्था में तीर्थज्ञरों को जो शांति नहीं मिली उससे भी कहीं अधिक शांति उन्हें सर्वस्व त्याग करके जब वे ज़ज़ल में मौन पूर्वक आत्म-ध्यान करते हैं तब मिली। इससे भी अनंत शांति उन्हें तब मिली जब वे शरीर, इंद्रियाँ, मन I.Q., E.Q. से भी रहित होकर शुद्ध-बुद्ध-परमात्मा (परम S.Q.) बन गये। अतः यथार्थ से परम शांति ही परम सफलता है। इस गणित के अनुसार जो जितने-जितने अंश में शांति का अनुभव करता है वह उतने-उतने अंश में सफल है। इसका कुछ स्पष्टीकरण निम्न में कर रहा हूँ। विशेष जिज्ञासु मेरे (आ.कनकनंदी) 1) आध्यात्मिक मनोविज्ञान 2) लेश्या मनोविज्ञान 3) ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण आदि का अध्ययन करें।

I) - I.Q., E.Q., S.Q. का स्वरूप

जीव के अनन्तानन्त गुण-धर्म-स्वभाव में से चेतना (ज्ञान, दर्शन, अनुभव), सुख, विश्वास, वीर्य, चारित्र आदि प्रमुख गुण हैं। अतः जीव का क्रमविकास भी विभिन्न दृष्टि/पहलु/अपेक्षा से होता है। यथा - 1) शारीरिक 2) इंद्रिय संबंधी 3) मानसिक 4) आध्यात्मिक आदि। सूक्ष्म निगोदिया (जीवाणु-रोगाणु) से लेकर बनस्पति काय जीव (वृक्ष) तक में औदारिक शरीर एवं स्पर्शन इंद्रिय (त्वचा) होती है। द्वि-इंद्रिय जीव से लेकर असंज्ञी (मन रहित) पश्चेद्रिय जीव (कुछ पशु-पक्षी) में 1) स्पर्शन 2) रसना 3) ध्राण 4) कर्ण 5) चक्षु इंद्रियाँ होती हैं। इन जीवों में भी 1) मतिज्ञान 2) श्रुतज्ञान होते हैं। प्रकारान्तर से इन दोनों ज्ञान को भी I.Q. (बुद्धिलब्धि) कह सकते हैं। प्राचीन परिभाषा में इसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। संज्ञी पश्चेद्रिय (मन सहित) पशु-पक्षी, मनुष्य, नारकी, देव में पूर्वोक्त पाचों इंद्रियजन्य ज्ञान के साथ-साथ मनजन्य ज्ञान भी होता है तथा यथा-योग्य शरीर भी होता है। उपरोक्त जीवों में भले शरीर-इंद्रिय मन (I.Q.) की अपेक्षा उत्तरोत्तर विकास हुआ है परंतु E.Q., S.Q. की अपेक्षा इनके विकास अनिवार्य नहीं है। वैसा तो एकेंद्रिय से लेकर असंज्ञी पश्चेद्रिय जीव तक आध्यात्मिक दृष्टि से केवल एक ही असम्यादृष्टिकोण, मिथ्यात्वगुणस्थान (आध्यात्मिक सुप्रावस्था) होने से उनमें E.Q., S.Q. का अभाव होता है। इस दृष्टि से उनकी चेतना (आध्यात्मिकता) का स्तर एक समान है। इतना ही नहीं संज्ञी पश्चेद्रिय (पशु-पक्षी, मनुष्य, नारकी, देव) जीव में भी जब तक आध्यात्मिक चेतना (S.Q.) की जागृति

नहीं होती है तब तक वे भी आध्यात्मिक दृष्टि से उपर्युक्त जीवों की कोटी (वर्ग, स्तर) में आते हैं। सम्यक् आध्यात्मिक संचेतना होने पर यथार्थ से I.Q., S.Q. का शुभारंभ होता है। इस अवस्था में सम्पन्न एक पशु भी एक साधारण मनुष्य से लेकर राजा, महाराजा से भी श्रेष्ठ हो जाता है जो E.Q. एवं S.Q. से रहित है। लौकिक दृष्टि से भी विचार करने पर एक शांत-भद्र, परोपकारी, अहिंसक पशु (गाय, बैल आदि) भी उपर्युक्त मनुष्य आदि से श्रेष्ठ है जो क्रूर, पर-अपकारी, हिंसक है। कषायों की मंदता से तथा लेश्याओं की शुद्धता से भी एक मिथ्यादृष्टि भी नम्र-शांत होता है और कषायों की तीव्रता से तथा लेश्याओं की अशुद्धता से वही जीव भी क्रूर और अशांत होता है।

II) I.Q. (बौद्धिकता) से सफलता एवं विफलता भी -

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां पर पीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अपवित्र विचारवाला दुर्जन विद्या को प्राप्त करके वाद-विवाद कलह करता है, धन को प्राप्त करके, भोग-राग, दिखावा, अहंकार से मस्त हो जाता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को सताता है। पवित्र विचारवाला सज्जन इससे विपरीत विद्या से स्व-पर के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश को प्रसारित करता है, धन प्राप्त करके योग्य क्षेत्र में योग्य व्यक्ति को दान देता है तथा शक्ति से दूसरों की रक्षा करता है।

I.Q. (बुद्धिलब्धि) के कारण जीव विषयों को समझता है, उसे स्मरण में रखता है, तुलनात्मक ज्ञान/जोड़रूप ज्ञान करता है, कार्य-कारण संबंध को जोड़ता तथा अनुमान ज्ञान के माध्यम से अप्रत्यक्ष का भी ज्ञान करता है। इसके साथ-साथ तर्क करना, निश्चय करना एवं धारणा करना यह सब I.Q. का कार्य है। इन सब कारणों से जीव छोटे-बड़े आदि कार्य करता है, अवलोकन, श्रवण के बाद स्मरण, मनन, चिंतन, अनुमान आदि ज्ञान होते हैं जिस के अनन्तर श्रुतज्ञान भी होता है। इन ज्ञानों से युक्त होकर जीव विविध कार्य संपादन करता है। परंतु इस I.Q. (ज्ञानात्मकशक्ति) का सदुपयोग E.Q. एवं S.Q. के सद्ब्राव के कारण स्व-पर कल्याण/विकास के लिए होती है अन्यथा (E.Q. & S.Q. के असद्ब्राव से) I.Q. के कारण स्व-पर अकल्याण/विनाश ही अधिक संभव है। क्योंकि E.Q. & S.Q. के अभाव में I.Q. सद्बुद्धि न होकर दुर्बुद्धि हो जाती है जिसके कारण जीव गलत ही जानता है, गलत ही सोचता है, गलत ही बोलता है और गलत ही कार्य करता है। कहा है - “विनाशकाले विपरीत बुद्धिः” अर्थात् विनाश के काल में विपरीत बुद्धि होती है। अथवा यथार्थ से कार्यकारण सिद्धान्तानुसार विचार किया जाये तो “विपरीत बुद्धि से विनाश होता है” यह अधिक सत्य है। इसके लिए साक्षी है देश-विदेश के प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास-

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

पुराणों के तथा वर्तमान के लाखों खलनायक/तानाशाह, दुष्ट, दुर्जन, चोर, डाकू, लुटेरे, आतङ्कवादी, क्रूर, हिंसक, भ्रष्टाचारी, बदमाश, घोटालाबाज, मिलावटकारी आदि-आदि। व्यक्तिशः उदाहरण है हिरण्यकश्यपु, भस्मासुर, तारकासुर, रावण, कंस, दुर्योधन, हिटलर, मुसोलिन, लादेन आदि-आदि। इससे विपरीत जिन में भले I.Q. कम हो परंतु E.Q. एवं S.Q. का सद्बाव हो तो उससे स्व-पर अकल्याण के परिवर्तन में स्व-पर कल्याण अधिक होता है। विभिषण, विदुर, शबरी, केवट, जैन मुनि शिवभूति आदि प्राचीन महापुरुषों से लेकर फ्लोरेंस नाइटेंगल, बाबा आप्टे, मदर टेरेसा तथा अनेक परोपकारी, सेवाभावी सज्जन, साधु-संत आदि। इसलिए तो नीतिकारों ने दुर्बुद्धि एवं दुर्बुद्धि से युक्त विद्वान से भी दूर रहने के लिए कहा है। यथा -

दुर्जनं परिहर्तव्यं विद्यायां अलंकृतोऽपि सन् ।

मणिनां भूषितं सर्प्यः किमप्यसौ न भयङ्करः ॥ (चाणक्य)

दुर्बुद्धि से युक्त विद्वान को भी दूर से त्याग देना चाहिए। जैसा कि मणि से युक्त होने पर भी विषधर सर्प भयङ्कर होता है वैसा ही दुर्जन विद्वान होता है।

उपर्युक्त प्रकरणों से शिक्षा लेकर मानव से लेकर राष्ट्र एवं विश्व को I.Q. को बढ़ाने के साथ-साथ E.Q. एवं S.Q. को बढ़ाने का सर्वतोमुखी प्रयास करना चाहिए, जिससे सर्वाङ्गीण विकास होगा। अन्यथा विकास, विनाश के लिए कारण बनेगा। जैसा कि राम-रावण युद्ध, पाण्डव-कौरव युद्ध, रोमन साम्राज्य, मय सभ्यता से लेकर प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध में हुआ।

उपर्युक्त वर्णन तो स्थूल वर्णन है। परंतु सूक्ष्म, व्यापक, वैश्विक आध्यात्मिक दृष्टि से जो I.Q. से सहित होकर तथा E.Q., S.Q. से रहित होकर तथा सत्ता, संपत्ति, शक्ति का दुरुपयोग करता है ऐसा राजा-महाराजा, चक्रवर्ती भी मरकर सूक्ष्म एकेंद्रिय निगोद जीव की अवस्थारूपी निम्नतम स्थान में जन्म लेता है, या पशु-पक्षी या नारकी भी बन जाता है।

E.Q. (संवेदनशीलता) से सफलता :-

यस्मात् अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः ।

जिससे स्वर्गादि का अभ्युदय सुख एवं निर्वाण रूपी परम सुख की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं।

पवित्रं क्रियते येन येनैव ध्रियते जगत् ।

नमस्तस्मै दयाद्राय धर्मं कल्पादिग्यपाप्य वै ॥

जिससे जीव पवित्र हो जाता है और जो विश्व को धारण करता है, दया से आद्रे धर्मरूपी कल्पवृक्ष के चरण को मैं नमस्कार करता हूँ, अर्थात् दयाधर्म से ही पतित

जीव पावन हो सकता है, दानव मानव बन सकता है, मानव महामानव-भगवान् बन सकता है। यह संपूर्ण चराचर विश्व धर्म से आधारित है।

यस्य चित्तं द्रविभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।

तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥ 1

जिसका चित्त दया के कारण द्रविभूत हो जाता है तो उसे फिर ज्ञान, मोक्ष, जटाधारण तथा भस्म लेपन की क्या आवश्यकता ?

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् ।

पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद् दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥ 2

यदि गुरु एक अक्षर भी बोल कर शिष्य को उपदेश देता है तो पृथ्वी में कोई ऐसा द्रव्य है ही नहीं कि जिसे देकर गुरु से उन्नरण हो जाय।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्। अर्थात् परस्पर उपकार करना जीव का धर्म है।

'उदारपुरुषाणां तु वसुधैव कुदुम्बकम्।' अर्थात् उदार पुरुष के लिए विश्व स्व-परिवार के समान है।

श्लोकार्थेन प्रवक्षामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

कोटि ग्रन्थों का सार है - परोपकार से पुण्य होता है और पर-अपकार से पाप होता है। पुण्य के प्रभाव से इहलोक-परलोक में विभिन्न प्रकार के सुख, समृद्धि, वैभव मिलते हैं और अंत में शाश्वतिक सुख रूपी मोक्ष मिलता है।

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥ अर्थात् परोपकार करना महान् व्यक्ति के वैभव है।

तरुवर फल नहीं खात है नदी न संचै नीर ।

रहिमन पर काज हित सज्जन धरै शरीर ॥

मानव की सेवा भगवान् की सेवा है । इसा मसीह

उपर्युक्त प्रकरण में सिद्ध होता है कि दया, सेवा, परोपकार, ज्ञानदान, उचित मार्गदर्शन, संवेदना, परदुःख कातरता आदि गुणों से व्यक्ति महान् बनता है। इन गुणों के समुच्चय ही E.Q. (संवेदनशीलता) है। इन गुणों के कारण व्यक्ति उत्तम सोचता है, उत्तम बोलता है, उत्तम लिखता है, उत्तम करता है तथा निकृष्ट चिंतन, वचन, लेखन कार्य से दूर रहता है। देश-विदेश के जितने भी परोपकारी समाजसेवक, राष्ट्रसेवी, राष्ट्रभक्त, समाजसुधारक, पशु-पक्षी-रोगी-विकलाङ्ग-दुःखी-दीन-हीन-असहाय की सेवा-सुरक्षा आदि हुए वे सब E.Q. गुण के कारण हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। इतना ही नहीं सच्चे साधु-संत, धर्म प्रचारक, तीर्थज्ञ, बुद्ध भी इस E.Q. के कारण बनते हैं,

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

आचरण करते हैं, प्रवचन करते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार जो विश्व के प्रत्येक जीव की कल्याण की भावना सहित सोलहकारण भावना भाते हैं वे ही आगे जाकर तीर्थङ्कर बनते हैं। एक उवसर्पिणी या एक अवसर्पिणी में केवल चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं जब कि उस अवधि में करोड़ों-अरबों केवली-अरहंत होते हैं। इसका कारण यह है कि जो उत्कृष्टतम् E.Q. वाले होते हैं वे ही तीर्थङ्कर होते हैं और ऐसी भावना/योग्यता कम जीवों में होती है। इसलिए तीर्थङ्कर केवली के समवशरण की रचना देव करते हैं और तीर्थङ्कर भगवान् कम से कम नौ वर्ष से लेकर लाखों-करोड़ों वर्ष तक दिव्यध्वनि (718 भाषा) के माध्यम से विश्व के लिए आत्मकल्याणकारी उपदेश देते हैं। रेडक्रास, रोटरी-क्लब, लॉयन्स-क्लब, युनिसेफ, नारायण सेवा संस्थान, महावीर इंटरनेशनल आदि राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सेवा संस्थान E.Q. से जन्म लेती हैं, श्वास लेती हैं, फलती हैं, फूलती हैं। E.Q. के अभाव से उपर्युक्त उत्तम गुण, उत्तम महापुरुष, उत्तम संस्थान, उत्तम कार्य आदि का भी अभाव हो जायेगा जिससे संपूर्ण जीव जगत् साक्षात् नरक बन जायेगा। नरक उसे कहते हैं जहाँ पर सतत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, मन, वचन, काय से अंत्य दुःख होता है और सब परस्पर को सदा-सर्वथा-सर्वत्र दुःख देते हैं। विश्व में सर्वत्र-सदा जो कुछ सुख-शांति-व्यवस्था है उसके लिए I.Q. से भी E.Q. का योगदान अधिक है। I.Q. तो E.Q. तथा S.Q. से रहित होकर स्वार्थी, संकीर्ण, शोषणकारी, भोगी, विघ्वंसकारी ही अधिक बनती हैं।

E.Q. से मन प्रसन्न होता है, विधेयात्मक विचार आते हैं, ग्रंथियों से अमृतोपत स्राव निकलता है, पुण्यबंध होता है, रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ति है, दूसरों के प्रति सद्भाव होता है, वैरत्व-ईर्ष्या-कलह-विघटन-युद्ध आदि नहीं होते हैं, रोग नहीं होते हैं, होने पर अधिक पीड़ा नहीं होती है तथा रोग शिश्र ठीक हो जाते हैं। इतना ही नहीं आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमविकास करता हुआ संसार के उत्तमोत्तम I.Q. सत्ता, संपत्ति, शक्ति, वैभव, सुख को प्राप्त करता हुआ तथा उसका सदुपयोग करता हुआ अंत में S.Q. के माध्यम से परमविकास स्वरूप ईश्वरत्व/सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

S.Q. (आध्यात्मिकता) से ही परम-विकास-सफलता

अंतरङ्ग-बहिरङ्ग कारणों से जब एक संज्ञी पश्चेन्द्रिय जीव में पवित्रता आ जाती है तब उस जीव का दृष्टिकोण/विश्वास/भाव सम्यक् होता जाता है। इसी से उस की I.Q. भी सम्यक् होती जाती है। इसके कारण उसकी E.Q. एवं S.Q. में जागृति आती जाती है। दृष्टिकोण सम्यक् हुए बिना उच्च I.Q. वाला भी E.Q., S.Q. से रहित होता है। सत् विश्वास की जागृति ही S.Q. की जागृति है और S.Q. की जागृति से E.Q. की जागृति होती तथा I.Q. भी सच्ची एवं अच्छी होती जाती है।

अर्थात् S.Q. के विकास से E.Q. तथा I.Q. में अवश्य विकास होगा। इसके साथ-साथ पूर्वोक्त वर्णनानुसार जब संज्ञी पश्चेन्द्रिय जीव में S.Q. का विकास होता है और S.Q. का सद्भाव जीव में रहता है तब उसका E.Q., I.Q. शरीर, इंद्रिय, मन, मस्तिष्क में हास तो नहीं होगा परंतु विकास ही होगा। इसी से सिद्ध होता है कि इंद्रियों के पूर्ण विकास (पश्चेन्द्रिय) तथा मन के विकास (संज्ञी) जीव में ही E.Q., S.Q. की उत्पत्ति/जागृति होती है परंतु हर संज्ञी पश्चेन्द्रिय जीव में E.Q., S.Q. की उत्पत्ति निश्चित रूप में होती ही है यह अनिवार्य नहीं है परंतु S.Q. के विकास से अन्य सब विकास अवश्य ही होगा। यह विकास या पतन मुख्यतः व्यक्ति निष्ठ है, व्यक्ति आधारित है। वैज्ञानिक डारविन के विकासवाद के समान यह विकास या पतन केवल भौतिक, रासायनिक, वातावरण (परिसर) जन्य, वंशानुगत, शारीरिक, इंद्रियगत, मानसिक, संघर्ष मूलक नहीं है न हि आधुनिक जिनोम (DNA., RNA) के समान अव्यापक, अपूर्ण है। जीव के उत्तम भाव (E.Q., S.Q.) के कारण जीव में जो अनंतानंत कर्माणु बंध होते हैं। इस प्रमुख कारण से तथा डारविन के नियम एवं जीनोम सिद्धान्त में वर्णित गौण कारण से जीव में विकास होता है। जैसा कि योग्य बीज बाह्य जल-वायु आदि सहकारी कारणों को प्राप्त करके अंकुरित, पल्लवित, पुष्टित, फलप्रद बनता है उसी प्रकार जीव के भाव एवं कर्म रूपी मुख्य कारण के अनुसार तथा बाह्य गौण सहकारी कारण (वातावरण आदि) के अनुसार विकास होता है। यह कभी संभव नहीं कि अलग-अलग वातावरण आदि के कारण गेंहू के बीज से कहाँ आम का वृक्ष बन जाये तो कहाँ नारियल का वृक्ष तो कहाँ ककड़ी की लता तो कहाँ सर्प जन्म ले तो कहाँ मनुष्य तो कहाँ पक्षी जन्म ले। डारविन से लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों को मूलतः जीव के गुणधर्म, उसकी सत्ता, शक्ति आदि का परिज्ञान नहीं होने के कारण यह सब कमियाँ, गलतियाँ होती हैं। यथा- जिस प्रकार की भौतिक तत्त्व/सत्य अकृत्रिम, अनादि-अनंत, अविनाशी, परिवर्तनशील है उसी प्रकार अभौतिक तत्त्व/सत्य (जीव, आकाश, काल) भी अकृत्रिम, अनादि-अनंत, अविनाशी, परिवर्तनशील है। अतएव 1) डारविन के विकासवाद यानी प्राकृतिक चयन का सिद्धान्त 2) जीनोम सिद्धान्त 3) ईश्वर सृष्टिकर्तावाद (विशेष सृजन-इंटेलीजेंट डिजायन) को सत्य-तथ्य मूलक पुनः परीक्षण करके यथार्थ सत्य को स्वीकार करना चाहिए। इस संबंधी विशेष परिज्ञान के लिए मेरी 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) कौन है विश्व का कर्ता-धर्ता-हर्ता 3) अनंत शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा पुस्तकों का अध्ययन करें।

E.Q. के कारण जीव प्रत्येक जीव के प्रति संवेदनशील बनता हुआ S.Q. को वृद्धिगत करता है। S.Q. के कारण जीव की I.Q. एवं E.Q. अधिक सम्यक्, विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

जागृत होती हैं जिस से उसे सत्य-असत्य, आत्मा-परमात्मा, योग्य-अयोग्य, करणीय-अकरणीय के प्रति अधिक संचेतना, सक्रियता आ जाती है। इस से वह अधिक से अधिक ज्ञानी, वैरागी, निष्पृही, शांत, साम्य, सुखी होता जाता है। ऐसे जीव ही साधु-संत, धर्मात्मा, महात्मा, परमात्मा बनते हैं। इनके द्वारा ही आध्यात्मिकता, संस्कृति, विश्व-प्रेम, विश्वशांति आदि मंगलमय कार्य संपादन होते हैं। E.Q. (दया, करुणा, परोपकार) तथा I.Q. का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। इसलिए S.Q. के अभाव से संस्कृति, आध्यात्मिकता, विश्वशांति आदि का अभाव हो जायेगा। I.Q. से जीव संकीर्ण-स्वार्थ सिद्धि कर सकता तो E.Q. से जीव सीमित स्व-पर उपकार कर सकता है परंतु S.Q. के कारण स्वयं अनंत शांति-सफलता को प्राप्त करके विश्व-कल्याण के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं, उपदेश प्रदान करते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। संक्षिप्तः कहे तो I.Q. से मनुष्य मानव या दानव बन सकता है तो E.Q. से मानव महामानव बन सकता है तथा S.Q. से मानव महामानव बनता हुआ परमात्मा बन जाता है। ज्ञान की दृष्टि से विचार करे तो कुबुद्धि (I.Q.) में 1) कुमतिज्ञान 2) कुश्रुतज्ञान 3) कुअवधिज्ञान होंगे सुबुद्धि (I.Q.) में 1) सुमतिज्ञान 2) सुश्रुतज्ञान 3) सुअवधिज्ञान होंगे। E.Q. में 1) सुमति ज्ञान 2) सुश्रुतज्ञान तो कुछ जीव में 3) सुअवधिज्ञान 4) मनःपर्यय ज्ञान तथा S.Q. में 1) सुमतिज्ञान 2) सुश्रुतज्ञान के साथ-साथ कुछ जीव में 3) सुअवधिज्ञान 4) मनःपर्ययज्ञान 5) केवलज्ञान भी संभव है। शांति-सफलता की दृष्टि से I.Q. वाला संख्यात को E.Q. वाला असंख्यात तथा S.Q. वाला अनंत को प्राप्त करेगा। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से I.Q. (E.Q., S.Q. से रहित) एक सोपान E.Q. वाला छः सोपान तथा S.Q. वाला चौदह सोपान (परम) को प्राप्त करेगा। ध्यान की दृष्टि से I.Q. (E.Q., S.Q. से रहित) वाला को आर्त-रौद्र (संक्लेश-विक्षुब्ध, कूरता-तनाव, अस्थिर विचार), E.Q. वाला को धर्मध्यान (शुभ, प्रसस्त, सात्त्विक, स्थिर विचार) तथा S.Q. वाला को धर्मध्यान से लेकर शुक्लध्यान (पवित्र, स्वच्छ, विचारातीत) होगा। I.Q. वाला (E.Q., S.Q. से रहित) का वर्तमान जीवन तथा भावी जीवन नरक-पशुमय होता है, E.Q. का देव-मानवमय तथा S.Q. का श्रेष्ठ देव-महामानव-परमात्मामय बनता है। तब जीव को परम, अक्षय, अनंत सुख-शांति, सफलता, वैभव, शक्ति, आनंद मिलते हैं। अतः

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।

प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभिः, धूवं फलं प्राप्त्यसि तद्विलक्षणम्॥

106 आत्मानुशासनम्

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से

जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों - सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चिय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संतते: प्रथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।

नवत्यवशयं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥ 110

हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इंद्रिय दमन, दान और ध्यान की परंपरा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त करता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठम् नय प्रमाण प्रकृताङ्गसाऽर्थम्।

अधृत्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः जिन ! त्वदियं मतमद्वितीयम्॥ 116

युक्त्यानुशासनम्

हे वीर जिन ! आप का यह अनेकांत रूप शासन अद्वितीय है। इसमें दया, दम, त्याग और समाधी में तत्परता है। नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभव रोधक रूप से निर्णय किया गया है एवं इसमें समस्त एकांत प्रवादों, दर्शन मोहनीय के उदय से सर्वथा एकांतवादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।

आत्मोपादानसिद्धं, स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिहासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वन्द्वभावम्।

अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालं, उत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्यजातेम्॥ 7

सिद्धों का सुख 1) आत्मा से ही उत्पन्न होता है। 2) वह सुख अतिशय युक्त होता है। 3) समस्त बाधाओं से रहित होता है। 4) अत्यंत विशाल व विस्तीर्ण होता है। 5) वृद्धि एवं हास से रहित होता है। 6) इंद्रिय विषयों से रहित स्वाभाविक होता है। 7) दुःख रूप विरोधी धर्म से सदा रहित है। 8) अन्य बाह्य निमित्त या सामग्रियों की अपेक्षा से रहित 9) उपमा रहित। 10) अनंत है। 11) विनाश रहित है इसलिए सदा बना रहता है। 12) उस सुख का महत्व सर्वोत्कृष्ट है और वह अनंत काल तक रहता है। 13) इंद्रादिक के सुख से भी बढ़कर है। इसलिए कर्मोंके सर्वथा नाश होने से वह सिद्ध भगवान् के ही होता है।

III - तीन प्रकार की चेतना तथा I.Q., E.Q.S.Q.

अद्वैतेषि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्। यथोपलक्षितो जीवः सार्थनामस्ति नान्यथा ॥ 942 पश्चाध्यायी

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

यथापि चेतना एक है तथापि आगम के अनुसार इस चेतना के तीन भेद हैं। उस चेतना से विशिष्ट जीव ही यर्थार्थ नामधारी कहलाता है।

प्रकारांतर से इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि प्रत्येक जीव में बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा हैं अर्थात् आत्मा ही तीनों रूप में परिणमन करता है। बहिरात्मा एकान्ततः हेय एवं त्यजनीय है। परमात्मा एकान्ततः उपादेय एवं ग्रहणीय है। अन्तरात्मा प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय है। क्योंकि अन्तरात्मा के माध्यम से बहिरात्मा को त्याग कर परमात्मा को प्राप्त किया जाता है, परंतु जब परमावस्था प्राप्त हो जाती है तब अंतरात्मपना स्वयं छूट जाता है। इसलिए यह प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय होते हुए भी सर्वथा ग्रहणीय नहीं है। यथा-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपायात्तत्र परमं मध्योपायाद्विस्त्व्यजेत् ॥ 4 समाधितंत्र

समस्त शरीरधारी जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से चेतनात्मा बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार का है। उनमें से अंतरात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए और बहिरात्मा का त्याग कर देना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभान्तिरन्तरः ।

चित्तदोषात्मविभान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ॥ 5

शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, पशु, मकान आदि अन्य पदार्थों में जिसे अपने आत्मा का या अपने पर का भ्रम होता है वह बहिरात्मा जीव है। जिसको चित्त, राग-द्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानि जो उन्हें पृथक्-पृथक् ठीक तरह जानता है, वह अंतरात्मा है। जो मिथ्यात्व अज्ञान और रागादि दोषों से सर्वथा छूट कर अत्यन्त निर्मल हो गया है, वह परमात्मा है।

चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ है क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्मफल को चेतते हैं, त्रस कर्मफल चेतना को चेतते हैं, केवल ज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

सर्व ही प्रसिद्ध पृथकीयिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेंद्रिय जीव अप्रकट सुख-दुःख का अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल को अनुभव करते हैं और द्वि-इंद्रियादि त्रस जीव निर्विकार परम आनंदमयी एक स्वभाव धारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्मफल को भी अनुभव करते हैं। साथ में विशेष राग-द्वेष रूप कार्य की चेतना भी रखते हैं तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मा अनुभव की भावना से उत्पन्न परमानंदमय एक सुखामृत रूप समरसी भाव उसके बल से इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणों का उल्लंघन

कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञान को अनुभव करते हैं।

स्थावरकाय जीव की चेतना शक्ति अल्प विकसित होने के कारण, वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कम होने के कारण शक्ति की कमी होने से, ज्ञानावरणीय कर्म का तित्रोदय होने के कारण ज्ञान कम होने से तथा केवल स्पर्शन इंद्रिय होने से वे पूर्वोपार्जित कर्म को केवल विवश होकर भोगने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए स्थावर जीव बाह्य सुख-दुःख, प्रतिकूल वातावरण से स्वयं को बचाने के लिए अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए इनमें केवल पूर्वोपार्जित कर्म को भोगने रूप प्रधानतः (मुख्यतः) कर्मफल चेतना है। भले स्थावर जीव शक्ति की कमी से सुख-दुःख को विवश होकर भोगता है तथापि कुछ प्रतिक्रिया भी करता है। जैसे - जिधर पानी होता है उधर वृक्ष की जड़ फैलती है, जिधर प्रकाश होता है उधर वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं। लाजवंती को छूने पर लाजवंती मुरझा जाती है। योग जल-वायु से वृक्ष पल्लवित होता है और विपरीत वातावरण से वृक्ष मुरझा जाता है। मौलश्री वृक्ष सुंदर स्त्री को देखकर काम-चेतना से युक्त हो जाता है। अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि यदि कोई वृक्ष को मारने के लिए जाता है तो वह भयभित हो जाता है, पते कांति रहित हो मुरझाने लगते हैं और कोई वृक्ष को पानी देने जाता है तो वृक्ष प्रसन्न हो जाते हैं। संगीत सुनने से वृक्ष अधिक पुष्ट-फलादि देते हैं। प्रदूषित वातावरण में वृक्ष कम विकसित होते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावर जीवों में भी कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं। इसलिए स्थावर जीव में मुख्यतः कर्मफल चेतना होते हुए भी गौण रूप से कर्म चेतना भी है।

त्रस जीवों के वीर्यान्तराय कर्म के कुछ क्षयोपक्षम से स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ शक्ति अधिक होने से इनके कर्मफल चेतना के साथ-साथ कर्म चेतना भी पायी जाती है। इसलिए त्रस जीव में स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ सक्रियता अधिक है। त्रस नामकर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय के कुछ क्षयोपक्षम से स्थावर जीवों से इनमें कुछ अधिक ज्ञान रहता है। आत्मरक्षा के लिए इधर-उधर भाग सकते हैं। इसलिए ये कर्मफल चेतना (अनुभव) के साथ-साथ कर्मचेतना से भी युक्त होते हैं।

जिन्होंने समस्त वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से अनंत वीर्य को प्राप्त कर लिया है तथा समस्त ज्ञानावरणीयादि धातिकर्म एवं अधातिकर्म के क्षय से सिद्ध परमात्मा बन गये हैं ऐसे जीव ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

IV) चार प्रकार के ध्यान तथा I.Q., E.Q., S.Q.

I.Q. = दुष्टता, दंड की कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभाव की निर्दयता, ये आचार्यों के द्वारा उस रौद्र ध्यान के अभ्यन्तर चिन्ह कहे गये हैं। अग्नि के कण के समान लाल नेत्र, भृकुटियों की कुटिलता, शरीर की भयानक आकृति, कांपना और

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

पसीना आना इत्यादि रौद्र ध्यान के समय प्राणियों के बाह्य चिन्ह होते हैं।

शंका, शोक, भय, प्रमाद, झगड़ालुवृत्ति, चिंता, भ्रांति, व्याकुलता, पागलपन, विषयों की अभिलाषा, निरंतर निद्रा, शरीर की जड़ता, परिश्रम और मूर्छा आदि ये उस आर्तध्यान से आक्रांत मन वाले प्राणियों के निरंतर बाह्य चिन्ह होते हैं जो स्पष्टतया पूर्णश्रुत के धारक गणधरों के द्वारा कहे गये हैं।

आधुनिक भौतिक विज्ञान, मनो विज्ञान और रसायनिक विज्ञान के मतानुसार भाव का प्रभाव अन्य जड़ वस्तुओं के साथ अन्य चैतन्य वस्तुओं पर भी पड़ता है। शुभ प्रसस्त भाव का प्रभाव रचनात्मक, अशुभ भाव का प्रभाव विविधंसात्मक, क्षतिकारक, अप्रसस्त होता है। भावों के अनुसार जीव के मन, मस्तिष्क तंत्रिका तंत्र, ज्ञानवाही-स्नायुमंडल आदि भी प्रभावित होते हैं। जैसे विद्युत् शक्ति-आवेश से विभिन्न यंत्रों में विभिन्न प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार भावात्मक शक्ति के आवेश से विभिन्न प्रतिक्रियायें प्रतिलिप्ति होती है। जैसे विद्युत् शक्ति से बल्ब प्रकाश देने लगता है, पंखा हवा देने लगता है, रोडियो, टेलिवीजन संगीत सुनाने लगते हैं, कम्प्युटर विभिन्न गणित की समस्याओं का समाधान करता है; उसी प्रकार भावात्मक विभिन्न आवेश से जीव में विभिन्न प्रकार शारीरिक, जैविक, रासायनिक प्रतिक्रियायें होती हैं।

जीव को राग, द्वेष, धृणा आदि भाव के कारण दुःश्चिंता, दुर्ध्यान, मनोविकार होता है जिसको “एजायटी न्यूरोसीस” यानि असामान्य चिंता, या दुःश्चिंता रोग का नाम दिया गया है। यह एक आम मर्ज है जिससे दुनियाँ के करीब पांच प्रतिशत लोग आक्रांत हैं।

भय से अतिसार रोग होता है, चिंता से अपस्मार रोग होता है, डर से धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, तीव्र ईर्ष्या और धृणा से अल्सर रोग हो जाता है, आत्मगलानी से क्षय रोग होता है, अति स्त्री संयोग से टी.बी., कुष्ठरोग, नपुंसकता आदि रोग हो जाते हैं। चिंता, क्रोध, धृणा भाव आदि से मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं जिससे मनुष्य को अनेक शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक रोग पागलपन आदि हो जाते हैं।

गुस्सा, उदासी, चिंता, धृणादि भाव हमारी त्वचा पर एक गहरा असर डालती है। जिस समय हमें क्रोध आता है उस समय शरीर में एक ऐसे रस का संचार होने लगता है जो चेहरे के तरफ रक्त के संचार को रोकता है। इसके कारण त्वचा रंग पीला या विवर्ण हो जाता है। अधिक क्रोध आने पर चेहरे पर झुर्रियाँ जल्दी पड़ जाती हैं। खुशी, संतोष रहने पर लाली और चमक रहती है। इस प्रकार चिंता एवं तनाव से केवल शारीरिक क्षति ही नहीं होती है बल्कि आंतरिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। फलतः पाचन

क्रिया पर भी दुष्परिणाम पड़ता है जिससे पाचन क्रिया भी बिगड़ने लगती है। अंततः हृदय की अन्यान्य बिमारियाँ पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार मानसिक दूषित भाव शरीर के ऊपर, मन के ऊपर, आत्मा के ऊपर, स्व-पर के ऊपर दूषित प्रभाव डालता है। इन दूषित भावों से केवल इहलोक में ही नहीं किंतु परलोक में भी अनेक कष्टों को उठाना पड़ता है।

- | | |
|----------------------------|--|
| 1) स्वार्थ, लोभ व द्वेष से | - जिगर व तिली खराब हो जाती हैं। |
| 2) क्रोध व धृणा से | - गुर्दे व मूत्राशय के रोग होते हैं। |
| 3) मत्सर व डाह से | - जिगर, पित्ताशय व हृदय के रोग होते हैं। |
| 4) चिंता व भय से | - हृदय पर ठेस लगाना, पाचन क्रिया का बंद होना तथा त्वचा रोग होते हैं। |

इसके अतिरिक्त अनिद्रा, शरीर दूटासा रहना, सिर में तनाव, भोजन में अरुची, दस्त लगाना, उल्टी होना, सिरदर्द होना, सिनेमें दर्द, धड़कन का बढ़ना, मूर्च्छित होना तथा ‘काम’ संबंधी गडबड़ी हो जाती है। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र में भी मानसिक तनाव से उत्पन्न होने वाला रोगों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

अभिषङ्गज ज्वर - काम, क्रोध तथा भय आदि मानसिक कारणों एवं भूत (देवादि ग्रह तथा जीवाणु) संबंध से होने वाले ज्वर को अभिषङ्गज ज्वर कहते हैं। काम ज्वर में चित्तविभ्रम, तंद्रा, आलस्य, भोजन की अनिच्छा, हृदय प्रदेश में वेदना तथा मुख का सुखना ये लक्षण होते हैं।

भयज तथा शोकज ज्वर में प्रलाप (delirium) होता है। क्रोध जन्य ज्वर में कंपन होता है। अभिचार और अभिशाप जन्य ज्वर में मूर्छा तथा प्यास होती है, भूताभिषङ्गज ज्वर में घबराहट, कभी हँसी और रोने की प्रवृत्ति तथा कंपन होता है।

S.Q. = राग-द्वेष, धृणा, ईर्ष्या आदि भावों को यथा-संभव कम करता हुआ जब जीव तनाव रहित होता हुआ प्रशस्त भाव से एक ध्येय में अपने मन का एककेन्द्रिय करण करके सुध्यान करता है तब पूर्व संचित पाप कर्म शिथिल हो जाते हैं तथा कुछ पाप कर्म जीव से झाड़ जाते हैं जिसके कारण जीव को मानसिक शांति के साथ शारीरिक आरोग्य की उपलब्धि होती है। ध्यान तंत्र की अमर कृति ‘ज्ञानार्ज’ में शुभचंद्राचार्य ने कहा भी है -

इदमत्यन्तनिर्वेदकविवेक प्रशमोद्भवम्।

स्वात्मनुभवमत्यक्षं योजयत्यङ्गिनां सुखम् ॥ 13 धर्मध्यान फल पृ. 671

अतिशय संसार व शरीरादि से विरक्ति, भेदविज्ञान और राग-द्वेष के उपशम से उत्पन्न होने वाला वह धर्मध्यान प्राणियों को स्वानुभवगम्य अतीन्द्रिय सुख से संयुक्त विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

करता है। शिष्य वैज्ञानि रीत प्रदीप्ति स्त्राम मिसनी है तथा प्रमाणप्रेस्तुति रीत प्रमाणनी

आलौल्यमारोग्यमनिष्टुरत्वं गन्धः शुभोमूत्रपुरविमल्पम् ।

कान्ति: प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिन्हम् ॥ ज्ञाना.

विषय लम्पटता का अभाव, निरोगता, दयालुता, शरीर की उत्तम गंध, मूत्र व
मल की अल्पता, शरीर में दीप्ति, प्रसन्नता और स्वर की मधुरता ये योगी के ध्यान में
प्रवृत्त होने के चिन्ह (पहिचाने) हैं।

पाया गया है कि ध्यान की दशा में व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर में कई प्रकार
की जैव रसायनिक प्रक्रियाएँ सक्रिय हो जाती हैं। कई अवांछनीय क्रियायें उसी प्रकार
निष्क्रिय हो जाती हैं। मिनिसोटा के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. डेविड डब्ल्यू आर्मे जान्सन
ने “ऑटोनामिक स्टैबिलिटी एण्ड मेडीटेशन” नामक अपने अनुसंधान निष्कर्ष में
बताया है कि ध्यान के द्वारा तंत्रिका तंत्र के क्रिया कलापों में एक नयी चेतना आ जाती
है और उनके सभी कार्य नियमित एवं स्थायी रूप में होने लगते हैं। शरीर की त्वचा बाह्य
वातावरण के प्रति, प्रतिरोधी क्षमता धारण कर लेती है और उस समय पर आये दिन
पड़ने वाले वातावरण के तनाव, साइकोसोमैटिक बीमारियाँ, व्यवहारिक अस्थायित्व
एवं तंत्र की विभिन्न कमजोरियाँ आदि दूर हो जाती हैं।

शरीर के अंदर शक्ति का संरक्षण और भण्डारण होने लगता है और यह
अतिरिक्त ऊर्जा शरीर और मन के विभिन्न कार्यों, व्यवहारों को अच्छे ढंग से सम्पादित
करने के कार्य में प्रयुक्त होने लगती है। चिकित्सक जानसन के कथनानुसारा ध्यान का
नियमित अभ्यास करने वाले व्यक्ति तनाव जैसी मानसिक बिमारियों से जल्दी ही छुटकारा
पा लेते हैं। हाइपोकोन्ड्रिया, सेजोफ्रेनिया, टायलर मेनिफेस्ट एक्जाइटी जैसी बीमारियों
को ध्यान द्वारा नियन्त्रित करने में उन्हें असाधारण सफलता मिली है। कुछ महिनों तक
ध्यान का अभ्यास करने पर उन्हें लोगों के व्यक्तित्व में आशाजनक सत्परिणाम देखने
को मिले। अधिक दिनों तक ध्यान के नियमित अभ्यास का क्रम बनाये रखने से शारीरिक
और मानसिक स्वास्थ में असाधारण रूप से वृद्धि होती है।

धारयेत् सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च ।

लोभेष्यद्वेषमात्सर्यरागादिनां जितेन्द्रियः ॥ 24 ॥

धारणीय वेग सदा इस लोक में और परलोक में हित चाहने वाला मनुष्य
जितेन्द्रिय बनकर सदा निम्न वेगों को रोके। लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, राग आदि।

ईर्ष्या दूसरों के उत्कर्ष को न सहना। राग-विषयासक्ति। मात्सर्य दूसरों के शुभ
के साथ द्वेष।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनोवैज्ञानिक, शरीर शास्त्रियों ने शरीर का अध्ययन

करके पाया है कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रासायनिक द्रव्यों का साव होता है जो साव जीव की विभिन्न संवेदनाओं के ऊपर प्रभाव डालते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि -

जितना भय, जितनी वृत्तियाँ, अहंकार, लोभ, उत्तेजना, सारे आवेग और आवेश, ये सब पैदा होते हैं ‘एड्रीनल ग्लैण्ड’ के द्वारा। काम-वासना पैदा होती है ‘गोनार्ड ग्लैण्ड’ के द्वारा यानी नाभि के आस-पास। यहाँ हमारी सारी वृत्तियाँ जन्म लेती हैं और उन पर कंट्रोल करने वाला है - ‘मास्टर ग्लैण्ड’। पिच्यूटरी का संबंध जुड़ा है पिनियल ग्लैण्ड और हाईपोथेलेमस से। सिर का फ्रन्टल लाब सारा नियंत्रण कर रहा है और सारी अभिव्यक्तियाँ, जो वृत्तियों की हो रही हैं, वह इसके आस-पास हो रही है। एड्रिनल ग्रंथि से ‘स्ट्रस हार्मोन’ के साव मानसिक दुश्चिन्ता के होने के कारण मांसपेशियाँ तन जाती हैं, दिल ज्यादा तेजी से कार्य करने लगता है और नेत्रों की पुतलियाँ भी फैल जाती हैं जिससे वह हर तरह के खतरे के लिए तैयार हो जाता है।

प्राचीन कहावत है कि चिता से भी भयंकर चिंता है क्योंकि चिता मृत शरीर को जलाती है किंतु चिंता जीवित मनुष्य को जलाती है। परंतु चिता का यदि उत्तिकारक, रचनात्मक कार्य में विनियोग किया जाता है तब यह चिता, चिंतामणी के समान बन जाती है। जैसे चिंतामणी रत्न इच्छित फल को देता है, उसी प्रकार मुचिंता अनेक उपलब्धियों को देती है। राग, द्वेष, घृणा आदि से प्रेरित चिंता, चिता के समान है, परंतु राग-द्वेषादि से रहित आत्म चिंतन, आत्मशोधक चिंता, चिंतामणी के समान है। जैन दर्शनानुसार दुश्चिन्ता में संलग्न मन को दुर्ध्यान कहते हैं और सुचिंता में संलग्न मन को सुध्यान कहते हैं। दुर्ध्यान अनेक आपत्तियों को निमंत्रण देता है तो सुध्यान अनेक विभूतियों को निमंत्रण देता है। दुर्ध्यान रूप आर्त व रौद्र ध्यान नरक, तीर्थशगति का कारण है तो शुभध्यान देवादि उत्तम गति के साथ-साथ परम्परा से मोक्ष के कारण है। शुक्ल ध्यान तो समस्त कर्म-बंधनों को तोड़ने के लिए अमोघ शस्त्र के समान है। योग सर्व-विपत्तिरूप लताओं के समूह को काटने के लिए तीखी धारवाला कुठार है तथा मोक्ष-लक्ष्मी को वश करने के लिए यह जड़ी-बूटी, मंत्र और तंत्र से रहित कार्मण (जादू) वशीकरण है।

इस तरह थके बिना पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले योगी पुरुष की,
दुष्ट विद्याएँ-उच्चाटन, मारण, स्तंभन, विद्वेषणः मंत्रमंडल, शक्तियाँ आदि कुछ भी हानि
नहीं कर सकती। शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मांसभक्षी दुष्ट व्यक्ति उसके
तेज को सहन नहीं कर सकते। वे स्वयं तत्काल ही त्रस्त हो जाते हैं। मारना चाहने वाले
दुष्ट हाथी, सिंह, शरभ, सर्प आदि हिंस्र जीव भी दूरसे स्तंभित हो (ठिक) कर खड़े
रहते हैं। मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक एकाग्रता से एक सौ आठ बार इस

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

महामन्त्र नमस्कार का जप करने वाला मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास का फल प्राप्त करता है। योगी पुरुष इसी महामन्त्र की यहाँ अच्छी तरह आराधना करके श्रेष्ठ आत्म-लक्ष्मी के अधिकारी बनकर तीन जगत् के पूजनीय बन जाते हैं। हजारों पाप करके और सैकड़ों जीवों का हनन करके तीर्थश्च जैसे जीव भी इस महामन्त्र की सम्यक् आराधना करके स्वर्ग पहुँच गये हैं।

अस्मिन् नितान्त-वैराग्य व्यतिषंगतरंगिते ।

जायते देहिनां सौख्यं, स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥ 17 ॥

अत्यंत वैराग्य भाव से परिपूर्ण धर्मध्यान में जब आत्मा एकाग्र हो जाती है, तब जीव को इंद्रियों से अगम्य आत्मिक सुख का अनुभव होता है। कहा है कि - “विषयों में अनासक्ति, आरोग्य, अनिष्टुरता, कोमलता, करुणा, शुभगंध तथा मूत्र और पुरीष की अल्पता हो जाती है। शरीर की कांति, मुख की प्रसन्नता, स्वर में सौम्यता इत्यादि विशेषतायें योगी की प्रवृत्ति के प्रारंभिक फल का चिन्ह समझना चाहिए।

V) लेश्या मनोविज्ञान एवं I.Q., E.Q. एवं S.Q.

छह पथिक वन के मध्य में मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से लदे हुए वृक्ष को देखकर कृष्णलेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष को जड़मूल से उखाड़कर फल खाने चाहिए। नील लेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के स्कंध (तने) को काटकर फल खाने चाहिए। कापोत लेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की शाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। तेजोलेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की उपशाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। पद्मलेश्या वाला विचार करता है कि फल तोड़कर खाने चाहिए। शुक्ललेश्या वाला विचार करता है कि पक कर निचे गिरे हुए फल खाने चाहिए। इन भावों के अनुसार वे वचन भी कहते हैं। उनके मानसिक विचारों तथा वचनों से लेश्या के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है।

I.Q., E.Q. एवं S.Q. को उपर्युक्त उदाहरण के माध्यम से सरलता से रुचिकर रूप से संक्षिप्त से चित्रण किया गया है। छहों पथिक की आवश्यकता (भूखमिटाना) एवं आवश्यकाता पूर्ति के साधन (फल) एक होने पर भी छहों की लेश्या (कषयों से अनुरंजित भाव-परिणाम) अलग-अलग होने के कारण उनके विचार-कथन एवं कार्य अलग-अलग हुए। कृष्ण लेश्या वाला का परिणाम (I.Q.) अशुभतम होने के कारण E.Q., S.Q. का पूर्ण अभाव था अतः वह संपूर्ण वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ कर फल खाने का विचार करता है। नील लेश्या एवं कापोत लेश्या वालों में क्रमशः अशुभ परिणाम में कमी आने से वे स्कंध एवं शाखाओं को काटकर फल खाने का विचार करते हैं। तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या वालों में उत्तरोत्तर परिणाम

शुभ से शुभतर एवं शुभतम होने के कारण वे वृक्ष को कम से कमतर तथा कमतम क्षति पहुँचाकर फल खाना चाहते हैं। इन तीनों लेश्या वालों में उत्तरोत्तर E.Q., एवं S.Q. वृद्धि होने के कारण उनमें ऐसे उत्तम से उत्तमतर तथा उत्तमतम विचार आते हैं। विचार से कथन एवं कार्य भी प्रभावित होते हैं। इसलिए कथन एवं कार्य परिष्कृत, सुसंस्कृत एवं सफलताप्रद, विकासकारी, कल्याणकारी, स्व-परोपकारी, सुखकारी बनाने के लिए सर्व प्रथम भाव को तत् योग्य परिष्कृत आदि बनाना अनिवार्य है।

कृष्ण लेश्या से संयुक्त जीव तीव्र क्रोधी, वैर को न छोड़ने वाला, गाली देने रूप से युक्त, दयार्थ से रहित, दुष्ट और वश में नहीं आने वाला, यह कृष्ण लेश्या का लक्षण है। कार्य करने में मंद, बुद्धि विहिन, विवेक से रहित, विषय लोलुपता, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, अभेद्य, निंदाव धोका देने में अधिक, धन-धान्य से तीव्र लालसा, ये नील लेश्या के लक्षण हैं। रुष्ट होना, निंदा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होना, ईर्ष्या करना, पर का तिरस्कार करना, अपनी प्रशंसा करने वालों से संतुष्ट होना, अपने समान समझकर दूसरों का कभी विश्वास नहीं करना, हानि-लाभ को नहीं जानना अपनी अनेक प्रकार से प्रशंसा करना, युद्ध में मरण की प्रार्थना करना, स्तुति करने वालों को बहुतसा पारितोषिक देना, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से हीन होना ये सब कापोत लेश्या के लक्षण हैं। “तेजोलेश्या” जीव को कर्तव्य-अकर्तव्य तथा सेव्य-असेव्य को जानकर, समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया-दान में लवलीन और सरल करती है। पद्मलेश्या में परिणत जीव त्यागी, भद्र, चोक्खा, क्रज्जुकर्मी, भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथा साधु पूजा व गुरु पूजा में तत्पर रहता है। शुक्ललेश्या के होने पर जीव न पक्षपात करता है और न निदान करता है, वह सब जीवों में समान रहकर राग-द्वेष व स्नेह से रहित होता है।

VI) जीवों के क्रमविकास एवं वर्गीकरण :-

सत्य/द्रव्य में अनंत गुण-धर्म, अवस्थायें होने के कारण तथा जीव भी सत्य/द्रव्य होने से जीव में भी अनंत गुण-धर्म, अवस्थायें होती है। विश्व के मूलभूत छः द्रव्य यथा - 1) जीव 2) पुद्गल (भौतिक तत्त्व) 3) धर्म द्रव्य (गति माध्यम) 4) अधर्म द्रव्य (स्थिति माध्यम) 5) आकाश 6) काल में से 1) जीव 2) पुद्गल के अतिरिक्त शेष चारों द्रव्य शास्वतिक शुद्ध ही रहते हैं परंतु जीव एवं पुद्गल शुद्ध एवं अशुद्ध भी होते हैं। अविभाज्य पुद्गलाणु (आधुनिक विज्ञान में मान्य परमाणु से भी अत्यंत सूक्ष्म) शुद्ध होता है तथा स्कंध (Mass) अशुद्ध होता है। अणु स्कंध रूप से एवं स्कंध अणु रूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त करके परिवर्तीत होते रहते हैं। अतः संपूर्ण पुद्गल सदा-सर्वदा शुद्ध नहीं रहते हैं। अक्षय अनंत काल से प्रत्येक जीव (अक्षय अनंतानंत जीव)

सबसे निम्न स्तरीय नित्य निगोदीया जीव (आधुनिक विज्ञान में मान्य बेक्टेरिया, वायरस आदि सूक्ष्म जीवों से भिन्न तथा सूक्ष्म भी) में रहता है। योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूपी चतुष्टय (चतुआयाम सिद्धान्त) को प्राप्त करके छः महिना आठ समय में 608 जीव त्रस (द्वि-इन्द्रिय से लेकर संज्ञी पश्चेन्द्रिय) अवस्था में आते हैं। त्रस में भी प्रायः 1) द्विइंद्रिय 2) त्रीइंद्रिय 3) चतुइंद्रिय 4) असंज्ञी पश्चेन्द्रिय 5) संज्ञी पश्चेन्द्रिय में क्रमविकास होगा। परंतु यह क्रमविकास में भी परिवर्तन संभव है। यथा - निगोदीया जीव मर करके सिधा मनुष्य बनकर परमात्मा बन सकता है। परमात्मा बनने पर पुनः जीव पूर्वांक क्रमविकास चक्र में परिवर्तन नहीं करेगा। कोई जीव क्रमविकास करता हुआ संज्ञी पश्चेन्द्रिय बना परंतु परमात्मा (जीव की सर्वोच्च अवस्था, शुद्धतम् अवस्था) प्राप्त नहीं कर पायेगा तो पुनः निगोदिया अवस्था में भी जा सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य मर करके निगोदिया से लेकर संज्ञी पश्चेन्द्रिय पशु, स्वर्ग के देव, नारकी या सिद्ध भगवान् बन सकता है। उसी प्रकार एक संज्ञी पश्चेन्द्रिय जीव मर करके मनुष्य, नारकी, देव या अन्य द्विइंद्रिय आदि जीव बन सकता है। परंतु परमात्मा केवल महामानव ही बन सकता है अन्य कोई भी जीव उसी अवस्था से परमात्मा नहीं बन सकता है। हाँ, अन्य जीव मनुष्य बनकर परमात्मा बन सकता है। जिस प्रकार 6 महिना 8 समय में 608 जीव नित्य निगोदिया अवस्था से निकलकर त्रस अवस्था में आते हैं उसी प्रकार 6 महिना 8 समय में 608 जीव मोक्ष जाते हैं। इसलिए त्रस अवस्था में स्थित संसारी जीवों की संख्या भी सतत एक समान रहती है। उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार 1) विशेष सूजन (इंटलीजेंट डिजायन) 2) डारविन के प्राकृतिक चयन रूपी विकासवाद का तुलनात्मक, निष्पक्ष अध्ययन करके सत्यग्राही विद्वानों को सत्य-तथ्य का उद्घाटन करके विश्व के समक्ष रखना चाहिए।

जीव में अतंर्निहित अनंत-गुण-धर्म, अवस्थायें होने के कारण उसका विकास भी अनंत रूप में होता है। जिस प्रकार बीज में निहित शक्तियाँ योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त करके होता है। पूर्व प्रकरण में भी जीव के विभिन्न विकास के बारे में वर्णन किया गया था तथा आगे के प्रकरण में भी विभिन्न विकास के बारे में वर्णन कर रहे हैं।

सत्य-तथ्य के बिना केवल जातूगर के चमत्कार से कभी भी किसी भी राष्ट्र का उत्थान जिस प्रकार असंभव है उसी प्रकार व्यविति से लेकर विश्व का विकास भी सत्य-तथ्य के बिना असंभव है।

3) जीवों के संक्षेप से भेद - 14 जीव समाप्त

संज्ञी, असंज्ञी, बादर, सूक्ष्मादि भेद :-

समणा अमणा पेया पश्चेन्दिया णिम्मणा परे सब्वे।

बादरसुहमेइंदी सब्वे पञ्जत इदरा य ॥ 12

पश्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के जानने चाहिए और दो-इंद्रिय, तीन-इंद्रिय, चौंडिय ये सब मन रहित असंज्ञी हैं, एकेंद्रिय बादर और सुक्ष्म दो प्रकार के हैं और पूर्वोक्त सातों पर्याप्त और अपर्याप्त हैं। ऐसे चौदह जीव समाप्त हैं।

“नानाविकल्पजाल रूप मनो” अर्थात् नाना प्रकार के विकल्प रूप को मन कहते हैं। ऐसे मन वाले जीवों को समनस्क कहते हैं। मन से रहित जीव को अमनस्क कहते हैं। भले एकेंद्रिय से लेकर चतुरिंद्रिय तक अमनस्क ही है तथापि यहाँ पर समनस्क और अमनस्क भेद पश्चेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से कहा गया है। इसका कारण यह है कि इंद्रिय एवं मन की उपलब्धि क्रम से होती है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि एकेंद्रिय से चतुरिंद्रिय जीव में क्रमशः एक-एक इंद्रिय वृद्धि रूप में स्पर्शन, रसना, ध्राण एवं चक्षु इंद्रिय होती हैं। असंज्ञी पश्चेन्द्रिय में स्पर्शन, रसना, ध्राण, चक्षु एवं कर्ण इंद्रिय होगी परंतु संज्ञी पश्चेन्द्रिय जीव में पाचों इंद्रिय के साथ-साथ मन भी होता है। इसलिए पश्चेन्द्रिय में ही संज्ञी एवं असंज्ञी का भेद है। संज्ञी की परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में निम्न प्रकार से दी है।

संज्ञीनः समनस्काः । 24 तत्त्वार्थसूत्र

The retonal (beings are also called) संज्ञी - i.e. one who has got sanjna-maind here.

मनवाले जीव संज्ञी होते हैं।

एकेंद्रिय से लेकर पश्चेन्द्रिय संज्ञी में से पश्चेन्द्रिय सैनी जीव अधिक विकसित जीव है क्योंकि संज्ञी जीव मन सहित होता है। मन दो प्रकार के हैं 1) द्रव्य मन 2) भाव मन।

पुद्गलविपाकी अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से द्रव्यमन होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइंद्रियावरण कर्म के क्षयोपक्षम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे समनस्क हैं और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्याय से यह सिद्ध हुआ है कि इनके अतिरिक्त और जितने जीव होते हैं वे असंज्ञी ही हैं। नेमीचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोमट्सार ग्रंथ में संज्ञा मार्गणा में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

णोइंदियआवरण खओवसमं तजबोहणं सण्णा ।

सा जस्स सो दु सण्णी इदरो मेसिंदिअबबोहो ॥

नोइंद्रियावरण कर्म के क्षयोपक्षम को या तत्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके संज्ञा न हो किंतु यथा संभव इंद्रियजन्य ज्ञान हो उसको असंज्ञी कहते हैं। संज्ञी असंज्ञी के पहिचान के लिए चिन्ह -

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।

जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ॥ 661

हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जाय उसको 'शिक्षा' कहते हैं। इच्छा पूर्वक हाथ, पैर चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताये हुए कर्तव्य को 'उपदेश' कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादि को मन के अवलंबन से ग्रहण-धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।

सिक्खादि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरिदो ॥

जो जीव प्रवृत्ति करने से पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करे तथा तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सके और जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके, उन्मुख हो या उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं और इससे जो विपरीत है उसे अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।

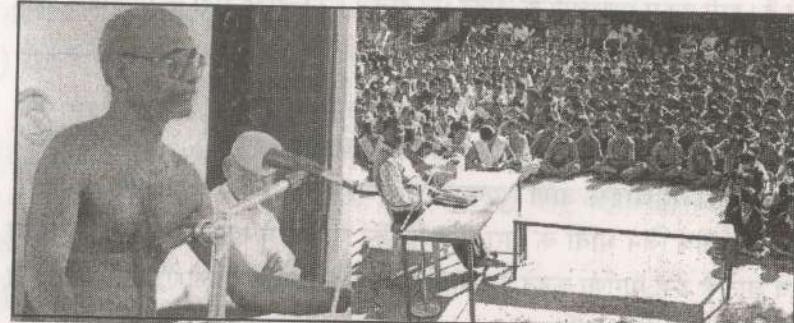
संज्ञी मार्गणागत जीवों की संख्या :-

देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण है। संसारी जीवराशि में से संज्ञी जीवों के प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना (असंख्यात) ही समस्त असंज्ञी जीवों का प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार हृदय कमल में आठ पाँचुँडी के आकार का द्रव्य मन होता है और उस द्रव्य मन से शिक्षा, उपदेश, वचनादि का ग्राहक, 'भावमन' होता है। वैसे तो एकेद्रिय से लेकर असंज्ञी पश्चेद्रिय तक में भी कुमतिज्ञान, कुश्तुज्ञान तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि संज्ञायें होने के कारण उनमें भी कुछ क्रिया-प्रतिक्रियायें होती हैं तथा वे भी सुख-दुःख अनुभव करते हैं तथापि जिस प्रकार संज्ञी पश्चेद्रिय जीव उपदेश को ग्रहण करता है, शिक्षा को प्राप्त करता है, मनन करता है, चिंतन करता है, सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है, संयम को धारण कर सकता है, मोक्ष को प्राप्त कर सकता है उसी तरह अन्य जीव नहीं कर सकते हैं।

चौदह जीव समास :- 1) बादर एकेद्रिय 2) सूक्ष्म एकेद्रिय 3) द्वीन्द्रिय 4) त्रीन्द्रिय 5) चतुरिन्द्रिय 6) असंज्ञी पश्चेद्रिय 7) संज्ञी पश्चेद्रिय। इन सातों के पार्याप्त एवं अपर्याप्त भेद होते हैं। इस कारण $7 \times 2 = 14$ जीव समास होते हैं।

पर्याप्ति एवं प्राण :- आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन ये पृष्ठ पर्याप्ति हैं, इनमें से जो एकेद्रिय जीव है उनको केवल आहार, शरीर, एक स्पर्शइंद्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी पश्चेद्रियों के चार ये पूर्वोक्त और भाषा तथा मन ये छः पर्याप्तियाँ होती हैं शेष जीवों के मन रहित पांच पर्याप्तियाँ होती हैं। पर्याप्ति अवस्था में संज्ञी पश्चेद्रियों के दस प्राण, असंज्ञी पश्चेद्रियों के मन के बिना नौ प्राण, चौइंद्रियों के मन और कर्ण के बिना आठ प्राण, त्रीइंद्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना सात प्राण, दोइंद्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और प्राण के बिना छः प्राण और एकेद्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, प्राण और रसना तथा वचनबल के बिना चार प्राण होते हैं। अपर्याप्ति अवस्था के धारक जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पश्चेद्रियों के श्वासोच्छ्वास, वचन बल और मनोबल के बिना सात प्राण होते हैं और चौइंद्रिय आदि एकेद्रिय पर्यन्त शेष जीवों के क्रमानुसार एक-एक प्राण घटता हुआ है।



विवेकानन्द जयन्ती के अवसर पर रा.उ. माध्यमिक विद्यालय (परसाद) के विद्यार्थी, शिक्षक एवं नागरिकों को सम्बोधित करते हुए
आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

4) 14 मार्गणा (जीवों के सविस्तार अनुसंधान)

जीव का अशुद्ध एवं शुद्ध स्वरूप
मगणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।

विष्णेया संसारी सब्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ 13

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणास्थानों तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं। शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध जीव तो शुद्ध है ही परंतु संसारी जीव भी शुद्ध है क्योंकि शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय केवल शुद्ध द्रव्य का ही ग्रहण करता है परंतु अवस्थाओं को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि इस नय का प्रतिपादीत विषय शुद्ध द्रव्य ही होता है। अशुद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय से संसारी जीव कर्म से संयुक्त हैं। इस अवस्था में जीव के अनेक भेद प्रभेद हो जाते हैं क्योंकि संसारी जीव अनंतानंत हैं और कर्म भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस अपेक्षा से संसारी जीव के भी संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद हो जाते हैं तथापि समझने के लिए एवं समझाने के लिए सुव्यवस्थित प्रणालि को अपना कर उसमें भेद-प्रभेदों को गर्भित किया जाता है। इस गाथा में आचार्य श्री ने संसारी जीवों के वर्गीकरण को मुख्य दो भेदों में किया है 1) मार्गणा स्थान 2) गुणस्थान। मार्गणास्थान के पुनः चौदह अंतरभेद हो जाते हैं और उस अंतरभेद में भी अनेक प्रभेद होते हैं। इसी प्रकार गुणस्थान के चौदह भेद होते हैं। उन चौदह भेदों के भी अनेक प्रभेद हो जाते हैं।

1) मार्गणा :-

जाहि व जासु व जीवा मागिजंते जहा तहा दिङा ।

ताओ चोहस जाणे सुण्णाणे मगणा होंति ॥ 141 गो. जी. काण्ड

जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं-अनुमार्गण किये जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुत ज्ञान में चौदह कही गयी हैं।

14 मार्गणाओं के नाम :-

- 1) गति मार्गणा
- 2) इंद्रिय मार्गणा
- 3) काय मार्गणा
- 4) योग मार्गणा
- 5) वेद मार्गणा
- 6) कषाय मार्गणा
- 7) ज्ञान मार्गणा
- 8) संयम मार्गणा
- 9) दर्शन मार्गणा
- 10) लेश्या मार्गणा
- 11) भव्य मार्गणा
- 12) सम्यक्त्व मार्गणा
- 13) संज्ञी मार्गणा
- 14) आहार मार्गणा।

1) गति मार्गणा :-

गति कर्मोदय जनित 'गति' है। अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। वे गतियाँ चार हैं- 1) नरक गति 2) तीर्यश्च गति 3) मनुष्य गति 4) देव गति।

2) इंद्रिय मार्गणा :-

जिस प्रकार अहमिन्द्र देव बिना किसी विशेषता के "मैं इंद्र हूँ, मैं इंद्र हूँ" इस प्रकार मानते हुए स्वयं को स्वामी मानता है, उसी प्रकार इंद्रियों को जानना चाहिए।

स्पर्श-रस-गंध-रूप और शब्द का ज्ञान जिनका चिन्ह है, वे ऐसे एकेंद्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पञ्चेंद्रिय जीव हैं और वे अपने-अपने भेदों सहित हैं। एकेंद्रिय जीव के एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, शेष जीवों के क्रम से जिव्हा, ग्राण, चक्षु और श्रोत्र बढ़ते जाते हैं।

3) काय मार्गणा :-

जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं- 1) पृथिवी 2) जल 3) अग्नि 4) वायु 5) वनस्पति 6) त्रस।

4) योग मार्गणा :-

पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से वचन काय से युक्त जीव के जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

5) वेद मार्गणा :-

पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री, द्रव्य नपुंसक होता है। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है, परंतु कहीं-कहीं विषम भी होता है।

6) कषाय मार्गणा :-

सुहुदुक्खसुबहुसस्सं, कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स ।

संसारदूरमेरं, तेण कसाओ त्ति णं बेत्ति ॥ 282

जीव के सुख-दुःखादि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र, खेत का यह कर्षण करता है, इसलिए इसको कषाय कहते हैं।

सम्मतदेससयलचरित जहकखादचरणपरिणामे ।

घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा ॥

सम्यक्त्व देशाखारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्ररूपी परिणामों को जो कषे-घाते, न होने दे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन इस प्रकार चार भेद होते हैं। अनंतानुबंधी आदि चारों के क्रोध-मान-माया-लोभ इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं। किंतु कषाय के उदय स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। जो सम्यक्त्व को रोके उसको अनंतानुबंधी, जो देशचारित्र को रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकलचारित्र को रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्र को रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

7) ज्ञान मार्गणा :-

जाणइ तिकालविसए, दब्बगुणे पजाए य बहुभेदे ।

पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति ण बेंति ॥ 299

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

8) संयम मार्गणा :-

अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाब्रतों को धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिष्ठेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालन, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय रूप दंड का त्याग तथा पाँच इंद्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पाँच भेद हैं।

9) दर्शन मार्गणा :-

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसको परमाणम में दर्शन कहते हैं। सामान्य विशेषात्मक पदार्थ की स्वरूप मात्र स्व-पर सत्ता का निर्विकल्प रूप से जीव के द्वारा जो अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं। पदार्थों में सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किंतु इनके केवल स्वरूप मात्र की अपेक्षा से जो स्व-पर सत्ता का अभेदरूप निर्विकल्प अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं। अतएव वह निराकार है और इसलिए इसका शब्दों के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। उसके चार भेद हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

10) लेश्या मार्गणा :-

जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पापसे लिप्त करें, पुण्य और पाप के आधिन करें, उसको लेश्या कहते हैं। लेश्याओं के नियम से ये छह ही निर्देश-संज्ञायें हैं - कृष्णलेश्या, निललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या (पीत लेश्या) पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या।

11) भव्य मार्गणा :-

जिन जीवों की अनंतचतुष्टय रूप सिद्ध होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हो उनको भव्य सिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्य सिद्ध कहते हैं।

12) सम्यक् मार्गणा :-

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र देव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी ही प्रकार से इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक् कहते हैं। यह दो प्रकार से होता है - एक तो केवल आज्ञा से, दूसरा अधिगम से।

13) संज्ञी मार्गणा :-

नोइंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तजन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किंतु यथा संभव इंद्रिय जन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं।

14) आहार मार्गणा :-

शरीर नामक नामकर्म के उदय से देह-औदारिक, वैक्रियक, आहारक इन में से यथा संभव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मन रूप बनने के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं।

जिस प्रकार भौतिक तत्त्व अशुद्ध से शुद्ध (स्कंद-Mass से परमाणु- Atom) होता जाता है तो उसकी शक्ति प्रगत होती जाती है उसी प्रकार जीव भी अशुद्ध से शुद्ध (सत्यनिष्ठ, साम्यभावी, उदार, सहिष्णु, पवित्र) होता जाता है तो उसकी शक्ति (गुण, धर्म, प्रभाव, सुख-शांति, विकास) प्रगत होती जाती है।

5) आध्यात्मिक विकास गुणस्थान (01)

S.Q. एवं परम विकास हैं तो पतन उसके अभाव से :-

(+ S.Q. = विकास, - S.Q. = पतन)

आध्यात्मिकता (S.Q.) के विभिन्न स्तर, सोपान, डीग्री, तारतम्यता को गुणस्थान कहा जाता है।

1) आध्यात्मिक सुप्रावस्था :- जीव की जिस अवस्था में सत्य-तथ्य, द्रव्य, आत्मा-परमात्मा, संसार-मोक्ष, करणीय-अकरणीय, न्याय-अन्याय आदि का सम्यक् श्रद्धान्/विश्वास/रुचि न हो उस अवस्था को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्थान में जीव में I.Q. तो होता है परंतु E.Q., S.Q. के अभाव से जीव हिंसा, झूट, चोरी, कुशील, परिग्रह, फैशन-व्यसन, अन्याय-अत्याचार, भ्रष्टाचार, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि करता है और उसे अच्छा मानता है। सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पश्चेंद्रिय जीव तक निश्चय से मिथ्यात्व गुणस्थान वाले (मिथ्यात्वी) होते हैं। साथ ही साथ अधिकांश चारों गति के जीव यथा - मनुष्य, पशु-पक्षी, देव, नारकी भी इस स्तर के होते हैं। इस स्तर के जीव मरकर प्रायः निम्नस्तर के जीव में ही जन्म लेते हैं भले चारों गतियों में से किसी में भी जन्मे।

2) आध्यात्मिक जागृति E.Q., S.Q. के शुभांग्भ :- मिथ्यात्व गुणस्थान से विपरीत जीव की जिस अवस्था में सम्यक् श्रद्धान् हो उस गुणस्थान को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में सत्य-तथ्य का विश्वास/आत्मविश्वास होने के कारण मिथ्यादृष्टि अवस्था के समान हिंसा आदि पाप तथा क्रोध आदि कषायों को रुचिपूर्वक तथा तीव्रता पूर्वक नहीं करता है। साथ ही साथ उसे त्याग करने का विचार करता है। वह अष्टमद, सप्तभय, तीन शल्य, आदि भी नहीं करता है। आध्यात्मिक क्रम विकास में इसका स्तर चौथा है। इसलिए इसे चतुर्थ गुणस्थान में रखा जाता है। इस अवस्था में I.Q., E.Q., S.Q. सम्यक् हो जाती है परंतु E.Q., S.Q. की गुणवत्ता कम रहती है। इसस्तर के जीव मरकर के प्रायः श्रेष्ठ मनुष्य एवं देव बनते हैं। इस स्तर से युक्त जीव का सर्वाङ्गीण विकास होते-होते परम विकास अवश्य ही होगा।

3) सासादन (आध्यात्मिकता से पतन) गुणस्थान :- जब अविरत सम्यग्दृष्टि अवस्था में तीव्रतम् कषाय रूप परिणाम होता है तब E.Q., S.Q. स्तर से पतन होता जाता है परंतु मिथ्यात्व अवस्था जब तक नहीं आती है उस अवस्था को सासादन/आध्यात्मिक पतन अवस्था कहा जाता है। आध्यात्मिक क्रमविकास में इसका स्थान द्वितीय है।

4) मिश्र (मिथ्या + सम्यक्त्व) गुणस्थान :- जीव की जिस अवस्था में सम्यक् तथा असम्यक् रूचिका मिश्रण रहता है उस अवस्था को मिश्र गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में जीव को यथार्थ सत्य एवं अयथार्थ सत्य का सही-सही विश्वास नहीं होता है। आध्यात्मिक क्रम विकास में इस का स्तर तृतीय है। इस अवस्था में I.Q., E.Q., S.Q. भी मिश्र रूप में होती है।

5) देश विरत/गृहस्थाश्रमी :- जिस अवस्था में जीव में सम्यक् विश्वास के साथ-साथ हिंसादि पापों से आंशिक विरक्ति हो जाती है उस अवस्था को देश विरत गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में I.Q., E.Q., S.Q. की गुणवत्ता अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्था से बढ़ जाती है। इसके कारण जीव संकल्प पूर्वक त्रस जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाता है, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, फैशन, व्यसन आदि नहीं करता है। E.Q. की जागृति तथा अधिकता के कारण जीव दान, दया, परोपकार, सेवा, परदुःख कातरता, सहयोग आदि को सक्रियता से करता हुआ S.Q. को और भी अधिकता से अधिक प्राप्त करना चाहता है। आध्यात्मिक सोपान में इसका स्थान पांचवा है। इस स्तर का जीव मर कर के श्रेष्ठतर देव में अत्पन्न होते हैं।

6) पूर्ण विरक्त/आत्मसाधक :- जब E.Q., S.Q. में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है तब जीव स्व-पर कल्याण के लिए हिंसादि पापों को पूर्णतः त्याग करता है। क्योंकि E.Q. के कारण वह इतना दयालु, परदुःख कारत हो जाता है कि जिस के कारण वह मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना से कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जिससे दूसरों को दुःख हो तथा श्रेष्ठ S.Q. के कारण बाह्य सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि से विरक्त हो जाता है। इसलिए इस स्तर के जीव आत्मसाधक-सन्यासी बन जाते हैं। भले उनके पास भौतिक सत्ता-संपत्ति नहीं होने के कारण वे भौतिक साधनों से दूसरों को सहयोग आदि नहीं करते हैं परंतु भाव, व्यवहार, प्रवचन, लेखन, मार्गदर्शन के द्वारा गृहस्थाश्रमी से भी अधिक करते हैं। श्रेष्ठ S.Q. के कारण सत्य, आत्मा-परमात्मा आदि का चिंतन, मनन, ध्यान, अध्ययन आदि पूर्वोक्त स्तर से अधिक होता है। इस अवस्था में “वसुधैव कुटुम्बकम्” “आत्मवत् सर्व जीवेषु” “जिओं और जीने दो” विश्व शांति, विश्व मैत्री, सह अस्तित्व, पर्यावरण सुरक्षा की भावना पूर्वोक्त स्तर से भी अधिक होती है। इस अवस्था सम्पन्न जीव को साधु-संत, मुनि, ऋषि, तपस्वी, श्रमण आदि कहा जाता है। इस स्तर के जीव मरकर के स्वर्ग के इंद्रादि उच्चतर देव बनते हैं।

(7 से 12) S.Q. आध्यात्मिक क्रांति/ध्यानावस्था :- जब आध्यात्मिक शुद्धता एवं विकास के कारण I.Q., E.Q. मन की स्थिरता, दृढ़ता, पवित्रता, शक्ति

अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है तब आध्यात्मिक शक्तियाँ केंद्रिभूत एवं विकसित होती जाती हैं। इसे आध्यात्मिक श्रेणी/सोपान आरोहण कहा जाता है। इस प्रक्रिया में आत्मा के गुणों को गुप्त-सुप्त एवं विकृत करने वाले अनंतानंत कर्माणु शिथील, दुर्बल होकर आत्मा से निजीर्ण तथा क्षय होते जाते हैं। 12 वाँ गुणस्थान के अन्त में सम्पूर्ण कषायों (क्रोध-मान-माया-लोभ) क्षय हो जाती है। यदि कोई जीव क्षय नहीं करके उपशम करता हुआ श्रेणी (उपशम श्रेणी) आरोहण करेगा और 11 वाँ गुणस्थान से नीचे गिरेगा (S.Q. आध्यात्मिकता में हास) तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तो चौथे गुणस्थान तक गिरेगा और उपशम सम्यग्दृष्टि है तो प्रथम गुणस्थान तक गिर सकता है। यारहवाँ गुणस्थान के शिखर से गिरते हुए 11 वाँ गुणस्थान में मरेगा तो सर्वोच्च देव सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र में जन्मलेगा तथा अगले भव में उच्चस्तरीय मनुष्य (राजा-महाराजा-चक्रवर्ती-तीर्थङ्कर) बनकर पुनः साधु बन कर परमात्मा बन जायेगा। 10 वाँ गुणस्थान से लेकर सातवाँ गुणस्थान में मरेगा तो यथा योग्य श्रेष्ठ देव पर्याय में जन्म लेगा। छठे से लेकर मिथ्यात्व गुणस्थान में मरेगा तो यथायोग्य पूर्वोक्त जीव में जन्म लेगा। इससे सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक उत्थान-पतन ही जीव के उत्थान-पतन में प्रमुख कारक है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जब क्षपक श्रेणी आरोहण करेगा तो 11 वाँ उपशांत गुणस्थान को छोड़कर सिद्ध 10 वें गुणस्थान से 12 वें गुणस्थान में पहुँचेगा। 12 वाँ गुणस्थान से न नीचे पतन होगा न ही मरण होगा।

13) S.Q. की परमावस्था :- जीवन मुक्त परमात्मा :- 12 वें गुणस्थान के उपान्त समय तक मोह एवं कषायों को सम्पूर्ण क्षय करके जब अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म को समग्र रूप से क्षय कर देते हैं तब आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य प्रगट हो जाते हैं। इन्हें केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवनमुक्त परमात्मा, भगवान्, अरिहंत, तीर्थङ्कर आदि कहा जाता है। वे विश्व कल्याणार्थे, सत्य-तथ्य के शोध-बोध-प्रचार-प्रसार-अनुकरण के लिए दिव्यध्वनि (विश्व की संपूर्ण भाषा, 718 भाषा) के माध्यम से दिव्य देशना देते हैं जिसे भव्य पशु-पक्षी, मनुष्य, देव स्व-स्व योग्यतानुसार स्व-स्व भाषा में समझते हैं। वे विभिन्न स्थान में विहार करके अनेक वर्षों तक उपर्युक्त कार्य करते हैं। इस अवस्था में मरण नहीं होता है।

14) अयोग केवली गुणस्थान - अन्त में विहार, दिव्यध्वनि आदि समस्त कार्यों को त्याग करके संपूर्ण सूक्ष्म स्पंदनों को भी रोकते हैं - जिसे योग निरोध कहते हैं।

परम शुद्ध - सिद्धावस्था :- 14 वें गुणस्थान के अंत में शरीर के साथ-साथ बचे

हुए शेष अघाति कर्मों को नष्ट करके अशरीरि परमात्मा बन जाते हैं। एक समय में 14 राजू (असंख्यात प्रकाशवर्ष) की तीव्र गति से गमन करके 7 राजू दूरी को भी एक समय में पार करके सिद्ध क्षेत्र के सिद्ध शीला के ऊपर ब्रह्माण्ड/लोक के अग्रभाग में अनंत काल तक के लिए स्थिर हो जाते हैं। पुनः उनका जन्म-मरण आदि नहीं होता है। वे अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व आदि अनंत गुणों से युक्त होकर अनंत काल तक शुद्ध-बुद्ध-परमात्मा, 'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' सच्चिदानन्दम् रूप में विराजमान रहते हैं। यह जीव के परम विकास I.Q., E.Q., S.Q., शांति-सफलता, सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, वैभव, प्रभूत्व, विभूत्व, अजर-अमर, शाश्वतिक अवस्था है।

14 गुणस्थान का सविस्तार वर्णन

गुणस्थान का सामान्य लक्षण :-

जेहिं दु लक्षिखजंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।

जीवा ते गुणसण्णा णिद्विष्टा सव्वदरसीहिं ॥ 8 गो. सा.

दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय-क्षयोपशम आदि अवस्था के होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है।

गुणस्थानों के 14 भेद :-

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो ये देसविरदोय ।

विरदा पमत इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ 9

उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगिय ।

चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ 10

1) मिथ्यात्व 2) सासादन 3) मिश्र 4) अविरत सम्यग्दृष्टि 5) देशविरत 6) प्रमत्तविरत 7) अप्रमत्तविरत 8) अपूर्वकरण 9) अनिवृत्तिकरण 10) सूक्ष्मसांपराय 11) उपशांतमोह 12) क्षीणमोह 13) संयोगकेवली जिन 14) अयोगकेवली जिन ये चौदह जीव समास/गुणस्थान हैं और सिद्ध इन जीव समासों-गुणस्थानों से रहित हैं।

1) मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण :-

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसदहणं तु तच्च-अत्थाण ।

एयंतं विवरीयं, विणयं संसविदमण्णाणं ॥ 15

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - एकांत, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान।

2) दूसरे सासादन गुणस्थान का स्वरूप :-

आदिमसम्मतद्वा, समयादो छावलिति वा सेसे ।

अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासाणकखो सो ॥ 19

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अथवा यहाँ पर 'वा' शब्द का ग्रहण किया है इसलिए द्वीतीयोपशम सम्यक्त्व के अंतमुहूर्त मात्र काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल में अनंतनुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

3) तृतीय गुणस्थान का लक्षण :-

सम्माभिच्छुदयेण य, जन्तकरसब्बधादिकज्ञेण ।

ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ 21

जिसका प्रतिपक्षी आत्मा के गुण को सर्वथा धातने का कार्य दूसरी सर्वधाती प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है उस जात्यान्तर सर्वधाति सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व रूप या मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर जो मिश्र रूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

4) अविरत सम्यग्दृष्टि (सद् गृहस्थ)

णो इंदियेसु विरदो, णो जीव थावरे तसे वापि ।

जो सद्हादि जिणुतं, सम्माइड्डी अविरदो सो ॥ 29

जो इंद्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किंतु जिनेंद्र देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

5) देशविरत (उत्तम सद्गृहस्थ, श्रावक)

जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहाओ ।

एकसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ 31

जो जीव जिनेंद्र देव में अद्वीतीय श्रद्धान को रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है उस जीव को विरताविरत कहते हैं।

6) प्रमत्त गुणस्थान (मुनि, साधु-संत)

वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदा होदि ।

सयलगुणसीलकलिओ, महब्बई चित्तलायरणो ॥ 33

जो महाब्रती संपूर्ण 28 मूलगुण और शील भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त

एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला है। अतएव वह चित्रल (विभिन्न प्रकार) आचरण वाला माना गया है।

7) सप्तम गुणस्थान का स्वरूप (ध्यानस्थ मुनि)

संजलणोकसायाणुदओ मंद जदा तदा होदि ।

अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि ॥ 45

जब संज्वलन और नोकषाय का मंद उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। इसलिए इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं - 1) स्व-स्थान प्रमत्त और 2) सातिशयाप्रमत्त।

8) अपूर्वकरण गुणस्थान (इस गुणस्थान से श्रेणीआरोहण)

अंतो मुहूत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।

पडिसमयं सुजङ्गतो, अपुव्वकरणं समलियइ ॥ 50

जिसका अंतमुहूर्त काल है, ऐसे अधःप्रवृत्त करण को बिता कर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है, तब उसको अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानवर्ति कहते हैं।

9) नौवें गुणस्थान का स्वरूप

एकम्हि कालसमये, संठाणादीहि जह णिवट्टंति ।

ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ 56

होंति अणियट्टिनो ते पडिसमयं जेस्सिमेक परिणामा ।

विमलयर झाणहुयवहिसहाहिं णिद्वृ कम्मवणा ॥ 57

अंतमुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से आदि या मध्य अंत के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अंतरङ्ग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उसी प्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता; उनके अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक-एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देता है।

10) दसवें गुणस्थान का स्वरूप

धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुतं ।

एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादब्बो ॥ 59

जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा-सुखीं-सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग-लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्म सांपराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

11) उपशांत कषाय :-

कदक फलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।

सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ॥ 61 ॥

निर्मलि फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर की जल की तरह संपूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशांत कषाय नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

12) बारहवें गुणस्थान का स्वरूप :-

णिस्सेसखीण मोहो, फलिहामलभायणुदयसमचितो ।

खीण कषायो भण्णदि णिंगथो वीयरायेहिं ॥ 62 ॥

जिस निग्रंथ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटीक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वितराग देव ने क्षीण कषाय नामका बारहवाँ गुणस्थानवर्ती कहा है।

13) तेरहवें गुणस्थान का वर्णण (सयोग केवली)

केवलणाण दिवायर किरण कलावप्पणासिअण्णाणो ।

णवकेवललद्धुगम सुजणियपरमप्य ववएसो ॥ 63 ॥

असहायणाण दंसणसहियो इदि केवली हु जोगेण ।

जूतो ति सजोगि जिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ 64 ॥

जिसका केवल ज्ञान रूपी सूर्य अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से (उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवललब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इंद्रियाँ, आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग तथा धातिकर्म से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनाधिनिधन आर्ष आगम में कहा है।

14) चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान का वर्णन :-

सीलेसिं संपत्तोणिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो ।

कम्मरयविप्पमुक्तो गयजोगो केवली होदि ॥ 65 ॥

जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी हो चुके हैं और जिसके कर्मों के आने का द्वारा रूप आस्त्र सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्म रूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्मसे सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं।

उपर्युक्त जो मार्गणा एवं गुणस्थान का वर्णन किया गया है इसमें संपूर्ण संसारी जीवों का कथन है तथापि दोनों में कुछ सूक्ष्म भेद हैं वह भेद यह है कि मार्गणा स्थान में तो विशेषतः बाह्य गति, शरीर, इंद्रिय आदि को माध्यम करके प्रस्तुपणा की गयी है तो गुणस्थान में अंतरज्ञ भावों को प्रधानता दी गयी है।

“सब्वे सुद्धा हु सुद्ध णया” यह सिद्धान्त बहुत ही व्यापक एवं रहस्य पूर्ण है। इस सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से कोई भी जीव न छोटा है और न बड़ा है। भले बाह्य शरीर, गति, इंद्रिय आदि से या गुणस्थान की अपेक्षा छोटे-बड़े हो सकते हैं। विशेष जिज्ञासु को प्रवचनसार, पश्चास्तिकाय, समयसार आदि को अवलोकन करना चाहिए। यह जैन धर्म का सार्वभौम/साम्यभाव/समताभाव/समानाधिकार-परम विकासवाद सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से ही राजनीति में समाजवाद, लोकतंत्र, साम्यवाद की सही स्थापना हो सकती है। इसी से ही विश्व मैत्री, विश्व-प्रेम, विश्व-समाज, विश्व-बंधुत्व, निरस्त्रीकरण (अस्त्र रहित राष्ट्र निर्माण) विश्वशांति आदि महान् उदात्त भावना की संपूर्ति हो सकती है। सिद्धान्ततः शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख संपत्ति सिद्ध भगवान् के समान होते हुए भी व्यवहारतः अशुद्धनय से संसारी जीव सिद्ध स्वरूप नहीं है। क्योंकि संसारी जीव कर्म-परंत्रता के कारण संसार अवस्था में अनंत शरीरिक, मानसिक दुःखों को भोगता रहता है। यदि व्यवहार नय से भी शुद्ध मानेंगे तो अनुभव रूप में उपलब्ध रूप जो दुःख है एवं कर्मपरतंत्रता है उसका अभाव होने का प्रसंज आयेगा परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है और एक अनर्थ यह हो जायेगा कि संसारी जीव मुक्त जीव की तरह अनंत सुखी होगा तो मोक्ष के लिए जो भगवान् का उपदेश एवं सिद्धि की साधना की जाती है वह भी निष्फल हो जायेगी। यदि शुद्ध निश्चय नय को मानते हुए व्यवहार नय को नहीं मानेंगे तो सिद्ध भगवान् संसार में स्थित अभव्य, मिथ्यादृष्टि, किडे-मकोडे, कुत्ता, सियार, सूअर, नारकी, पापी, कामी आदि जीवों में किसी में भी किसी प्रकार का अंतर नहीं रहेगा। अभव्य तो सम्यदृष्टि तक कभी नहीं हो सकता तो वह सिद्ध कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, संसार मोक्ष, आस्त्र, बंध, संवर, निर्जरा, मुनिव्रत, श्रावकव्रत, धर्मध्यान, शुक्लध्यान आदि का भी लोप हो जायेगा।

यहाँ पर संक्षिप्त रूप में संसारी जीवों का वर्णन किया गया है। ऐसे तो जैन धर्म सर्वज्ञ प्रणीत, अनाधिनिधन, अनेकांतात्मक वस्तुस्वरूप एवं अहिंसा प्रधान होने के विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

कारण इस धर्म में जीवों का जितना साङ्गेपान्न, व्यापक-सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं पाया जाता है। विशेष जिज्ञासु विस्तृत अध्ययन के लिए गोमद्वासार जीवकांड, स्वतंत्रताके सूत्र (तत्त्वार्थसूत्र), ध्वला आदि का आवलंबन लें।

यहाँ पर जिन-जिन मुख्य प्रणालियों के माध्यम से जीवों का अन्वेषण, शोध-बोध किया गया है उसका कुछ दिग्दर्शन मैं यहाँ कर रहा हूँ। यथा -

गुण जीवा पञ्चती पाणा सण्णा य मगणाओ य ।

उवाओगो विय कमसो वीसं तु परुवणा भणिदा ॥ 2 गो. जी. काण्ड

यहाँ 14 गुणस्थान, 98 जीव समास, 6 पर्याप्ति, 10 प्राण, 4 संज्ञा, 4 गति-मार्गणा, 5 इन्द्रिय मार्गणा, 6 काय-मार्गणा, 15 योग-मार्गणा, 3 वेद-मार्गणा, 4 कषाय-मार्गणा, 8 ज्ञान-मार्गणा, 7 संयम-मार्गणा, 4 दर्शन-मार्गणा, 6 लेश्या-मार्गणा, 2 भव्य-मार्गणा, 6 सम्यक-मार्गणा, 2 संज्ञी मार्गणा, 2 आहार मार्गणा, 2 उपयोग इस प्रकार ये जीव प्ररूपणा 20 कही है। प्रत्येक प्ररूपणा की निरूपित अग्र लिखित है। “गुण्यते” अर्थात् जिसके द्वारा द्रव्य से द्रव्यान्तर को जाना जाता है वह गुण है। कर्म की उपलब्धि की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन, उपयोग रूप चैतन्य प्राणों से जो जीता है वह जीव है। वे जीव जिनमें सम्यक्त्व रूप से ‘आसते’ रहते हैं वे जीव समास हैं। ‘परि’ अर्थात् समग्र रूप से आपि अर्थात् प्राप्ति पर्याप्ति है जिसका अर्थ है शक्ति की निष्पत्ति। जिन से जीव ‘प्राणन्ति’ जीते हैं अर्थात् जीवित व्यवहार के योग्य होते हैं। आगम प्रसिद्ध वांछा या अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। जिनके द्वारा या जिनमें जीव ‘मृगन्ते’ खोजे जाते हैं वे मार्गणा हैं। “मार्गयिता-खोजने वाला तत्त्वार्थ का श्रद्धालु भव्य जीव है। ‘मृग्य’ अर्थात् खोजने योग्य 14 मार्गणा वाले जीव हैं। मृग्यपने के कारणपने या अधिकरणपने को प्राप्त गति आदि मार्गणओं में उन-उन मार्गणावाले जीवों को खोजा जाता है। ज्ञान सामान्य और दर्शन सामान्य रूप उपयोग मार्गणा का उपाय है। इस प्रकार इन प्ररूपणाओं के सामान्य अर्थ का कथन किया है।”

मृगमरीचिका में जलाभास होने से जिस प्रकार उस में न ही जल के गुण-धर्म हैं न ही उस से जल के कार्य सम्पादन हो सकते हैं उसी प्रकार सत्याभास - धर्म-दर्शन-विज्ञान, व्याय, राजनीति आदि से भी यथार्थ कार्य असंभव है।

6) परम विकास एवं परम सफलता

जीव के सिद्ध स्वरूप एवं उर्ध्वगमन स्वरूप

णिक्रम्मा अद्वागुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।

लोयगठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुता ॥ 14

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं - सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं तथा अंतिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध और उर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त हैं।

इस गाथा में आचार्य श्री ने जीव के सिद्धत्व एवं उर्ध्वगमनत्व का वर्णन किया है। पूर्व में 14 वें गुणस्थान तक का वर्णन किया गया है। सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से चौदहवें गुणस्थान तक संसार अवस्था है क्योंकि इस गुणस्थान में भी चार अधाति कर्म की सत्ता है। भले इस गुणस्थान में चार धाति कर्म न होने के कारण अनंत चतुष्टय प्रगट हो गया है एवं भाव मोक्ष भी हो गया है तथापि द्रव्य मोक्ष एवं संपूर्ण मोक्ष नहीं हुआ है। चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में संपूर्ण कर्मों के क्षय से जीव पूर्ण मुक्त हो जाता है। समस्त विरोधात्मक कर्म के अभाव से जीव के अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं तथापि सिद्ध के आठ कर्म के अभाव से आठ विशेष गुण प्रगट होते हैं। यथा - 1) सम्यक्त्व 2) अनंतज्ञान 3) अनंतदर्शन 4) अनंतवीर्य 5) सूक्ष्मत्व 6) अवगाहनत्व 7) अगुरुलघुत्व 8) अव्याभावत्व।

सिद्ध भगवान् में जो आठ गुण प्रगट होते हैं वे आठ कर्मों के संपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं।

कर्म का अभाव

- 1) ज्ञानावरणीय कर्म
- 2) दर्शनावरणीय कर्म
- 3) मोहनीय कर्म
- 4) अंतराय कर्म
- 5) वेदनीय कर्म
- 6) आयु कर्म
- 7) नाम कर्म
- 8) गोत्र कर्म

गुण प्रगट

- | |
|-----------------|
| अनंत ज्ञान गुण |
| अनंत दर्शन गुण |
| सम्यक्त्व गुण |
| अनंत वीर्य गुण |
| अव्याबाध गुण |
| अवगाहनत्व गुण |
| सूक्ष्मत्व गुण |
| अगुरुलघुत्व गुण |

सिद्ध भगवान् संपूर्ण कर्म से रहित होने के कारण अमूर्तिक है इसलिए उनका मूर्तिक आकार नहीं हैं। तथापि अनंत गुणों का अंखड पिंड होने के कारण एवं प्रदेशत्व

गुण होने के कारण उनका बहुत ही सुंदर आकार होता है। वह आकार अंतिम शरीर से किंश्चित् न्यून (कुछ छोटा) है। भले संसारी जीवों के शरीर में यहाँ तक कि अरिहंत भगवान् के शरीर में भी छेद है, पोल है परंतु सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेश में (सिद्धाकार में) किसी प्रकार छेद या पोल नहीं होता। इसलिए सिद्ध भगवान् की प्रतिमा सुंदर, सुरुची पूर्ण, समचतुरस्त्र संस्थान युक्त घनाकार होती है। अरिहंत की प्रतिमा अष्ट प्रतिहार्य, लंछन एवं केश आदि से युक्त होती है किंतु सिद्ध प्रतिमा इन अष्ट प्रतिहार्य आदि से रहित होती है। अनेक अकृत्रिम सिद्ध प्रतिमायें होती हैं। नव देवता में सिद्ध भगवान् की प्रतिमा होती है और अलग से भी सिद्ध भगवान् की प्रतिमा होती है। कर्नाटक के शेडबल में रत्नत्रय मंदिर में एक विशाल सिद्ध भगवान् की प्रतिमा है। होसदुर्ग में भी सिद्ध भगवान् की प्रतिमा है। वर्तमान में जो सिद्ध भगवान् की खोखली प्रतिमा बनाते हैं वह आगमोक्त नहीं है। खंडित प्रतिमा अपूजनीय है तो खोखली सिद्ध भगवान् की प्रतिमा में तो और भी अधिक अङ्गोंपाञ्च की कमी है तो वह प्रतिमा कैसे पूज्यनिय है ?

अष्ट कर्म से रहित होते ही सिद्ध जीव एक समय में 14 राजू की गति से एक ही समय में सात राजू की दूरी को पार करके लोकाग्र में जाकर स्थिर हो जाते हैं।

ऊर्ध्वगमन करना जीव का स्वाभाविक गुण है तथापि कर्म परतंत्रता के कारण जीव विभिन्न गति में गमन करता है परंतु कर्म से रहित होने से स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिसे ऋजु गति में गमन करता है। कहा भी है -

पथडिष्टिदि अणुभागप्पदेस बन्धेहि सब्वदो मुक्तो ।

उहुं गच्छदि सेसा विदिसा वजं गदिं जंति ॥

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध से संपूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध, स्वतंत्र, शुद्धात्मा तीर्यग् आदि गतियों को छोडकर ऊर्ध्वगमन करता है।

स्वतंत्रता के सूत्र या मोक्षशास्त्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के विभिन्न कारण बताते हुए कहा है -

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ 6

पूर्व प्रयोग से, संग का अभाव होने से, बंधन के टूटने से, वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

संसारी जीव ने मुक्त होने से पहिले कितनी बार मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है, अतः पूर्व का संस्कार होने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जीव जब तक कर्मभार सहित रहता है तब तक संसार से बिना किसी नियम के गमन करता है और कर्मभार से रहित हो जाने पर ऊपर को ही गमन करता है। अन्य जन्म के कारणभूत गति,

जाति आदि समस्त कर्मबंध के उच्छेद हो जाने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। आगम में जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने वाला बताया है। अतः कर्म नष्ट हो जाने पर अपने स्वाभाविक अवस्था के कारण मुक्तात्मा का एक समय तक ऊर्ध्वगमन होता है। भगवती आराधना में भी कहा गया है - इस प्रकार बंधन से मुक्त हुआ जीव वेग से ऊपर को जाता है जैसे बंधन से मुक्त हुआ एरण्ड का बीज ऊपर हो जाता है। समस्त कर्म, नो कर्मरूप भार से मुक्त होने के कारण हल्का हो जाने से वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिठ्ठी के लेप रहित तूम्बी जल में ढूगने पर भी ऊपर ही जाती है। जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर जाता है। अथवा जैसे आग की लपट स्वभाव से ही ऊपर जाती है वैसे ही कर्म रहित स्वाधीन आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।

तो सो अविगग्हाए गदीए समए अणंतरे चेव ।

पावदि लोयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥ 2125 भ.आरा.

कर्मों के क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समय बाली मोडे रहित गति से सात राजू प्रमाण आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्र वेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है।

शुद्ध जीव एवं शुद्ध परमाणु तीव्र गति से गमन करने पर एक समय में 14 राजू (विश्व के एक छोर से अन्य अंतिम छोर अर्थात् असंख्यात आलोक वर्ष) गमन कर सकते हैं। परंतु मर्त्य-लोक के अदाई द्वीप से जीव सिद्ध होता है, मध्य लोक से लोकाग्र सात राजू है इसलिए सिद्ध भगवान् सात राजू गमन करते हैं। समय का कोई भेद नहीं होता है इसलिए सात राजू गमन के लिए भी एक समय लगता है। यह सूक्ष्म गणितिय सिद्धान्त है। परमाणु जघन्य रूप से एक प्रदेश से लेकर उत्कृष्ट रूप से 14 राजू गमन कर सकता है अर्थात् मध्य में इसके असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सिद्ध भगवान् में अनंत शक्ति, ऊर्ध्वगमन शक्ति रहते हुए एवं आकाश और काल अनंत होते हुए भी सिद्ध भगवान् सात राजू गमन करके लोकाकाश के अन्तिम में क्यों स्थित हो जाते हैं ? इसका धार्मिक एवं वैज्ञानिक कारण यह है कि गमन करने के लिए अंतरङ्ग और बहिरङ्ग कारण चाहिए। बहिरङ्ग कारण में बाह्य उदासिन निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए उदासीन-निमित्त कारणों के अभाव से सिद्ध जीव लोकाकाश से एक प्रदेश भी आगे गमन नहीं कर पाते हैं। कहा भी है-

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ 8

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता।

गत्युपग्रहकारकभूते धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीयत्यलोके गमनाभावः ।

तद्वावे च लोकालोक विभागभावः प्रसज्यते ॥

गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्तः ।

धर्मोहि सर्वदा कर्ता जीव पुद्गलयोर्गते ॥

त्रैलोक्य के अन्त तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है। अलोक में जीव और पुद्गल के गति हेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नहीं होती। विशेष जिज्ञासु के लिए मेरा (आ. कनकनंदी) विश्व विज्ञान रहस्य एवं स्वतंत्रता के सूत्र अवलोकनीय है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यों के लिए जितने अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग कारण चाहिए उनका सद्वाव भी चाहिए और विरोधी कारण का अभाव भी चाहिए इसके बिना कार्य नहीं हो सकता है। जो एकान्तवादी मानते हैं कि केवल उपादान कारण से कार्य होता है, निमित्तों की आवश्यकता नहीं है उनके लिए यह विषय एक अजेय चुनौति पूर्ण है। क्योंकि सिद्ध भगवान् में पूर्ण उपादान कारण है तो भी गमन नहीं कर पाते हैं तो अन्य-अन्य कार्यों के लिए क्या यथा योग्य कारण नहीं चाहिए? अवश्य चाहिए।

सिद्ध भगवान् समस्त कर्मों से रहित होने के कारण उनमें अशुद्ध उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं है तथापि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध रूप में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशीलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में द्रव्य का लक्षण विभिन्न दृष्टिकोण से बताते हुए कहा भी है -
सदद्रव्य लक्षणम् ॥ 29 अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है।

Matter and energy neither be created nor destroyed. Each can be completely changed into another form or on another.

ज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त यह है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु संपूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

दवियदि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पजायाई जं ।

दवियं तं भण्णंते अण्णणभूदं तु सन्तादो ॥ 9 पश्चास्तिकाय

What Flows or maintains its identity through its Several qualities and modifications, and what is not dif-

ferent from Satta or substance, that is called Dravya by the all knowing.

उन-उन सद्वावपर्यायों का जो द्रवित होता है- प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं - जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

उत्पादद्रव्यव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । 30

उत्पाद :- Sat (is a) simultaneous possession (of) coming into existence birth.

व्यय :- Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य :- Continuous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

द्रव्य सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अनंत तक रहेगा। तथापि यह सत् अपरिवर्तन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इसका नाश नहीं होता है। इसलिए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सदा सद्वाव होता है इसलिए सदा सत् स्वरूप ही है।

उत्पाद :- स्वजाति को न छोड़ते हुए भावान्तर, पर्यायान्तर की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे - मृत्युण्ड में से घट पर्याय अपने मिट्टी स्वभाव को न छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणमन करते हैं।

व्यय :- उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह “व्यय” है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

ध्रौव्य :- ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है। द्रव्य ध्रुव रूप से रहता है अर्थात् स्थिर रहता है उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुपना का अन्य रहता है।

अगुरुलघु गुण के कारण भी सिद्ध भगवान् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रहता है। ज्ञेयों में जो परिवर्तन होता है उसके अनुसार ज्ञान में परिवर्तन होता है; उस अपेक्षा से भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है।

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

पर-शोषणाश्रित बाह्य दुःखप्रद नश्वर वैभव है तो - स्व-पोषणाश्रित अन्तरंग सुखप्रद अविनश्वर वैभव

प्रत्येक आत्मा स्वभावतः/शुद्ध दृष्टि से अक्षय अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, ईश्वरत्व, प्रभुत्व, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, आकिंचन्य, क्षमा, शुचिता, सहज-सरलता, निर्मलता, पवित्रता, सच्चिदानन्द, वैभव है तो इस से भिन्न शरीर, धन-सम्पत्ति, राज्य, कुटुम्ब, नोकर, -चाकर, ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, अहंकार, ममकार, संकल्प-विकल्प (तनाव) से लेकर द्रव्यकर्म-भावकर्म आदि पर शोषणाश्रित बाह्य नश्वर वैभव (विभाग बन्धन, दुःख कारक) है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे परिग्रह, ग्रन्थी कहा है। परि समन्तात् गृह्णते/ ग्रस्यते इति परिग्रहः। अर्थात् जीव जिसको चारों तरफ से ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं अथवा जीव को जो चारों तरफ के ग्रसीत (निगलता) करता है उसे परिग्रह कहते हैं। 1) बाह्य 2) आध्यन्तर के भेद से इसके मुख्य दो भेद हैं 1) सचित् 2) अचित् 3) मिश्र भेद से बाह्य परिग्रह (वैभव) के 3 भेद हैं। स्त्री, कुटुम्ब, दास-दासी, पशु-पक्षी आदि सचित् वैभव (परिग्रह) हैं धन, धान्य, भूमि, राज्य, सोना, चान्दी, रूपये, दुकान, वस्त्र, अलंकार, मकान, यान-वाहन आदि बाह्य वैभव है तो अलंकारादि से युक्त स्त्री, कुटुम्ब आदि सचित् परिग्रह को ही मिश्र परिग्रह कहते हैं। पूर्व में वर्णित आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त जितने भी अशुद्ध/ वैभाविकभाव हैं वे सब आध्यन्तर परिग्रह (विभाव) हैं। संक्षिप्तः इसके निम्नोक्त 14 भेद हैं। यथा-

मिच्छत्तवेयराया तत्वेव हासादिवा य छद्मोसा ।

चत्तारि तत्वं कषाया चउदस अध्यंतरं गंथा ॥

1) मिथ्यात्व (अन्धश्रद्धा, विपरीत रूचि) 2) स्त्री वेद 3) पुरुष वेद 4) नपुंसक वेद 5) हास्य 6) रति 7) अरति 8) भय 9) शोक 10) जुगुप्सा (ग्लानी) 11) क्रोध 12) मान 13) माया 14) लोभ ये आध्यन्तर ग्रन्थी हैं। बाह्य ग्रन्थी से भी आध्यन्तर ग्रन्थी (गांठ, बन्धन) की संख्या, विस्तार, शक्ति, प्रभाव, भयंकरता, दुःखोत्पादकता, दुस्तज्यता, अधिक है। इतना ही नहीं दोनों परिग्रह परस्पर अनुसृत होने पर भी अन्तरंग परिग्रह ही बाह्य परिग्रह का नियमक है। अर्थात् अन्तरंग परिग्रहधारी ही बाह्य परिग्रह को स्वीकार करेगा अन्यथा नहीं। जिस प्रकार कि गरम लोहा पानी को गरम या वाष्प करेगा अथवा चुम्बक शक्ति से युक्त लोहा ही अन्य लोहा या चुम्बक को आकर्षित करेगा अन्यथा नहीं। इस कार्य कारण सिद्धान्त के अनुसार जो बाह्य परिग्रह (वैभव) की जितना-जितना अधिक से संग्रह/ग्रहण/शोषण करता है वह

उतना-उतना ही अधिक से अधिक आध्यन्तर परिग्रही है, संग्रही है, शोषणकारी है। इसलिए तो “बहवारंभं परिग्रहत्वं नारकस्याऽयुषाः” अर्थात् बहुत आरंभ (दोहन, शोषण, संकल्प, विकल्प, तनाव, तृष्णा) तथा बहुत परिग्रह (बाह्य वैभव, विभाव) से नरक-आयु का आश्रव, बन्ध होता है। इसका रहस्य यह है कि बहुत आरंभ एवं परिग्रह से स्व-पर का जीवन इहलोक परलोक में नारकीय/ कष्टकर बनता है। इससे विपरीत जितने-जितने अंशों में आरंभ एवं परिग्रह कम होते जायेंगे उतने-उतने अंशों में इहलोक-परलोक सहज-सरल-सुखमय बनता जायेगा। इसलिए तो भगवान् महावीर ने कहा है कि आनुशंगिक द्रव्य हिंसा से भी अधिक बन्धकारक/ दुःखप्रद परिग्रह है। यथा द्रव्य हिंसा बन्ध भजनीय किन्तु परिग्रह से बन्ध अवश्य है-

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेष्ठम्हि ।

बंधो धुवमुबधीदो इदि समणा छड्युया सब्वं ॥219

(कायचेष्ठम्हि) शरीर से हलन-चलन आदि क्रिया के होते हुए (जीवमदे) किसी जन्म के मर जाने पर (हि) निश्चय से (बंधो हवदि) कर्म बंध होता है। (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है। (अध) परन्तु (उवधीदो) परिग्रह के निमित्त से (बंधो धुवं) बंध निश्चय से होता ही है (इदि) इसलिए (समणा) साधुओं ने (सब्व) सर्व परिग्रह को (छड्युया) छोड़ दिया। साधुओं ने व महाश्रमण सर्वज्ञों ने पहले दीक्षाकाल में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव मई अपने आत्मा को ही परिग्रह मान कर शेष सर्व बाह्य-अध्यतंर परिग्रह (वैभव) को छोड़ दिया ऐसा जानकर के अन्य साधुओं को भी अपने परमात्म स्वभाव को ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रह को मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग देना चाहिए। यहाँ कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राण का घात जब राग- द्वेष आदि परिणामरूप निश्चय हिंसा से किया जाता है तब नियम से बन्ध होता है। पर जीव के घात हो जाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु पर द्रव्य में ममता रूप मुच्छा-परिग्रह से तो नियत से बंध होता ही है।

समीक्षा:- इस गाथा में आचार्य कुन्द कुन्द भगवन्त ने एक महान् आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। शान्त, स्वभाविक, शुद्ध स्वभाव का हनन जिस राग, द्रेष, मोह, ममत्व इच्छादि भावों से होता है उसे ही निश्चय से हिंसा कहते हैं। अर्थात् वैभाविक भाव ही हिंसा है एवं स्वभाव ही ‘अहिंसा’ है। वैभाविक भावों से रहित जीव की काय क्रिया से यदि कोई जीव मर जाता है तथापि उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। इसलिए द्रव्य-हिंसक, भाव अहिंसक हो सकता है, परन्तु जो बाह्य परिग्रह धारी है वह अवश्य अन्तरंग परिग्रह धारी है। क्योंकि बिना अन्तरंग के मोह, ममत्व, तृष्णा, लोभ, के बाह्य परिग्रह को नहीं स्वीकार कर सकता है। और मोह, ममत्वादि ही यथार्थ से विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

हिंसा हैं। इसलिए परिग्रहधारी अवश्य हिंसक है। और उसे अवश्य कर्मबन्ध होता है। परन्तु द्रव्य हिंसक कथंचित् अहिंसक होने उसे कर्म बन्ध नहीं होता है। इस दृष्टि से हिंसक से भी महाहिंसक परिग्रह धारी है। इसलिये अमृतचन्द्र सूरी ने इस गाथा की टीका में कहा है कि -परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभाविपना है उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चय अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बन्ध निश्चित है। इसलिये अभी तक जितने भगवान् बने पहले वे परिग्रह को त्यागकर के ही अहिंसक बने। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं ।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्युणुरपि च यत्राश्रम विधौ ॥
ततस्त्रात्सिद्ध्यर्थं परमकरूणो ग्रन्थमुभयं ।

भवानेवात्याक्षीत्रं च विकृतं वेषोपाधिरतः ॥ 4 स्वयंभूस्त्रोत्र
हे भगवन् ! प्राणियों की अहिंसा जगत में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है। परन्तु वह अहिंसा उस आश्रय विधि में नहीं हैं जिसमें की थोड़ा भी आरम्भ होता है। इसलिये उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिये परम दयालु होकर आपने ही बाह्य और अन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है और यथाजात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह से आसक्त नहीं हुए हैं। अन्तरंग एवं बाह्य परिग्रह पर स्वरूप है। जहाँ पर संयोग है, वहाँ दुःख ही दुःख है। इसलिये मुमुक्षु परिग्रह को दुष्टग्रह, ग्राह- (मगरमच्छ) से भी अधिक दुःखदायी मानकर त्याग कर देते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

परः परस्ततो दुःखमात्ममैवात्मा ततः सुखं ।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ 145 पृ.209 इष्टोपदेश
देहादिं पर पदार्थ तो पर ही है। उन्हें अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा, आत्मा ही है- आत्म पदार्थ अपना है। वह अपना ही रहेगा। वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता -उसे अपनाने से सुख प्राप्त होता है। इसीलिये तीर्थकरादि महापुरुषों ने आत्मा के लिये ही उद्योग किया है, विविध धोर तपश्चरण के अनुष्ठान द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति की है।

अविद्वान् पुद्गल द्रव्यं योऽभिनन्दतितस्य तत् ।

न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥ 146

अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है अतएव पुद्गल द्रव्य चारों गतियों में आत्मा का सम्बन्ध नहीं छोड़ता -वह बराबर साथ बना रहता है। और

विविध प्रकार के विचित्र दुःख देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने परिग्रह एवं हिंसा को अभिन्न सिद्ध किया है। क्योंकि हिंसा पाप प्रमाद से होता है (तथा परिग्रह पाप भी प्रमाद से होता है।) अतः दोनों के कारण एक होने से हिंसा एवं परिग्रह में कोई अन्तर नहीं है। यथा -

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो होषः ।

मोहदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वं परिणामः ॥ 111 पृ. सि.पृ.150

जो यह मूर्च्छा है यह ही परिग्रह की जनना चाहिए तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है। परिग्रह बहुत बड़ी हिंसा एवं बहुत बड़ा पाप होने पर भी आनुसंगिक द्रव्य हिंसा को तो बाह्य वैभव चाहने वाले बहुत बड़ा पाप मानते हैं परन्तु परिग्रह को हिंसा या पाप नहीं मानते हैं। वे परिग्रह को तो पुण्य मानते हैं, शान-स्वाभिमान की वस्तु मानते हैं, जो अन्याय पूर्ण प्रणाली से यथा आक्रमण, युद्ध, मिलावट, शोषण, ठगबाजी, धोखाधड़ी आदि से भी धन कमाकर वैभवशाली धन्ना सेठ बन जाते हैं, उसे भी लोग पुण्यशाली, धार्मिक मानते हैं और उसके अनैतिक पूर्ण, अन्याय पूर्ण, अधार्मिक व्यवहार को भी भय के कारण सहन करते हैं परन्तु प्रतिवाद नहीं करते, निराकरण नहीं करते हैं। कुछ व्यक्ति दानादि करके अपना नाम कमाने के लिये, अहंकार की पुष्टि के लिए अन्याय से भी धन कमाते हैं और इस अन्याय पूर्ण धन से यद्यकिंचित् दान देकर स्वयं को धार्मिक एवं दानी मानते हैं। इतना ही नहीं, इस दान के पीछे प्रसिद्धि, पाप को छिपाना, सेलटेक्स चोरी, इन्कमटेक्स चोरी तथा समाज के ऊपर प्रभाव डालना, अपना वर्चस्व कायम करना आदि कुभावना भी निहित रहती है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि दान देने के लिए भी धन कमाना मानो स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने के बहाने शरीर को मल से लिप्त करना है। यथा-

त्यागाय श्रेयसे विज्ञमविज्ञः संचिनोति यः ।

स्व-शरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥ 16 पृ.18 इष्टोपदेशः

जो निर्धनी पुरुष, पुण्य प्राप्ति होगी ऐसा विचार कर दान करने के लिए धन कमाता या जोड़ता है, वह स्नानकर लूँगा ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटा है।

जो निर्धनी ऐसा ख्याल करे कि 'पात्र दान, देव पूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पुर्वोपार्जित पाप की हानी होगी, इसलिये पात्र दानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये, सावद्य नौकरी, खेती, आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये, वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है।

खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति को भी समझाना चाहिये। किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से ही नहीं हो सकता। जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा था है।-

शुद्धैर्धनै विवर्धन्ते, सतामपि न संपदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥ 45

"सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं।"- कोई प्रश्न कर सकता है कि फिर श्रावक को दानादि में भी धन खर्च नहीं करना चाहिये यह भी निकलता है? परन्तु रहस्य यह है कि परिग्रह पाप है और परिग्रह धारी हिंसक है। इसलिये समग्रता से सम्पूर्ण परिग्रह त्याग करना चाहिये। यदि सम्पूर्ण त्याग नहीं कर पाता है तो परिग्रह अणुब्रत को धारण करें। इस अणुब्रत में भी जो पाप संचय होता है इसके साथ अन्य-अन्य गृहस्थ सम्बन्धी पाप को कम करने के लिए, निर्लोभ के लिए, त्याग वृत्ति को बढ़ाने के लिए न्याय से कमाये धन से यथा शक्ति ज्ञान, औषध, आहारादि दान दे। यदि परिग्रह धारी होकर भी दानादि नहीं करता है तो और भी महान् पापी है, लोभी है। दान से हिंसा स्वरूप लोभ को निरसन किया जाता है और जो दान नहीं देता है वह लोभ रूपी हिंसा को करता है। अमृतचंद सूरी ने उपर्युक्त विषय को स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है-

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।

तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥ 172 पृ. सिद्ध.

दान देना अहिंसा है, अर्थात् हिंसा को दूर हटाना है। कारण कि दान देने से लोभकषाय का त्याग होता है, बिना लोभकषाय का त्याग किये दान देने के परिणाम ही नहीं होते, इसलिए लोभ दानी के परिणामों की हिंसा करने वाला है। इसलिए लोभकषाय भी आत्मा को मोहित एवं प्रमत्त बनाता है। इसलिए वह भी हिंसा स्वरूप है। दान देने से उस लोभकषायरूप हिंसा का नाश होता है। इसलिए अतिथि को दान देने से अहिंसा धर्म की सिद्धि होती है। अथवा हिंसा भाव का परित्याग होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते।

विपरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥ 173 पृ. 196.

जिनकी आत्मा में सम्यादर्शन, सम्यज्ञान तथा सम्यक्चारित्र गुण प्रकट हो रहे

हैं, जो किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाने का भाव रखते हैं तथा शरीर से भी अच्छी तरह निरीक्षण करने के कारण जो दूसरे को पीड़ा नहीं देते, जिस प्रकार भौरा (भ्रमर) प्रत्येक पुष्प पर बैठता है परन्तु उसे विनष्ट नहीं होने देता, पुष्प को किसी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना ही उसका रसास्वाद लेता है। उसी प्रकार जो भ्रामीवृत्ति से कभी किसी के यहाँ और कभी किसी के यहाँ आहार लेने जाते हैं, किसी एक स्थान में ही मोहित वृत्ति नहीं रखते और न किसी को किसी प्रकार का कष्ट ही देते हैं, जो सदा गृहवास छोड़कर जंगल में निवास करते हैं, ऐसे साधुओं का घर आना बड़े ही पुण्योदय से होता है, सहसा नहीं होता। फिर भी घर आये हुए साधुओं का जो गृहस्थ दान नहीं देता है, वह कितना लोभी है यह बात छिपि नहीं रह सकती अर्थात् जिसके परिणाम घर पथरे हुये रत्नत्रयधारी परम शांत वृत्ति वाले वीतराग मुनियों के लिये भी आहार दान करने के नहीं होते हैं वह महान् लोभी है। ऐसा लोभी पुरुष कभी स्व-पर कल्याण नहीं कर सकता किंतु अपनी आत्मा को ठगता है।

कृतमात्मार्थं मुनये तदाति भक्तमितिभावितस्त्यागः ।

अरति विषाद विमुक्तः शिथिलित लोभो भवत्यहिंसैव ॥ 174

जो पदार्थ अपने लिये तैयार किया जाय और फिर उसको स्वयं देने के परिणाम हो जाये तो उस समय निश्चय से लोभ मंद हो जाता है। कारण यदि लोभ की तीव्रता होगी तो देने के परिणाम ही नहीं होंगे उस समय गृहीता के गुणों में प्रेम अवश्य ही हो जाता है, क्योंकि अपना प्रयोजनभूत पदार्थ दूसरों को प्रेम के वश होकर ही दिया जा सकता है। अन्यथा नहीं और विषाद भी उस समय नष्ट हो ही जाता है। उस पदार्थ के दान को जो अपने लिये खेद जनक समझेगा वह उसका दान ही क्यों करेगा। इस प्रकार अपने लिये तैयार किये हुए भोजन को जो गृहस्थ भाव पूर्वक मुनि महाराज को देता है उसके उस समय अरति, विषाद, और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाते हैं और इन तीनों के नष्ट हो जाने से उस समय आत्मा के अहिंसामय भाव रहते हैं। इसलिये दान को अहिंसा स्वरूप समझना चाहिये। समन्तभद्र स्वामी ने भी दानादि का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया है-

गृहकर्मणपि निचितं कर्म विमर्ष्य खलु गृहविमुक्तानाम् ।

अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि ॥ 24 रत्न. श्रा.

जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार आदि कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह की जल, मलिन रूधिर को धो देता है, नष्ट कर देता है।

किथ तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभोवा असंजमो तस्स ।

तथ परदब्बम्मि र्दो कथमप्पाणं पसाधयदि ॥ 221

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

परिग्रह धारी निश्चय से हिंसक है ही। भले जिनसे द्रव्यहिंसा हो गई है वह भाव अहिंसक हो सकता है, क्योंकि द्रव्य हिंसा तो अनिच्छा पूर्वक आनुशंगिक रूप में या अशक्य अनुष्ठान से हो सकती है, परन्तु बिना अन्तरंग मूर्च्छा भाव से द्रव्य परिग्रह नहिं रह सकता है। यदि ऐसे हैं तो यह प्रश्न हो सकता है कि तीर्थकर के समोशरण में बाह्य विभूति चक्रवर्ती के परिग्रह से भी अधिक है तो तीर्थकर भी मुर्च्छावान्, परिग्रहधारी, हिंसक हो जायेंगे? परन्तु तीर्थकर को यह दोष किंचित् भी नहीं लग सकता है, क्योंकि तीर्थकर धातीकर्म के अभाव से पूर्ण रूप से वितराणी, वितमोही, निर्मम होते हैं। भावमन के अभाव से वे इच्छा से सहित होते हैं, परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से इन्द्र धर्म सभा के लिए समोशरण की रचना करते हैं। समोशरण में गंधकुटी में सिंहासन में जो कमल रहता है उसके भी चार अंगुल ऊपर भगवान् विराजमान रहते हैं। परिस्थिति मानो यह बताती है कि जैसे भगवान् अपने शरीर से समोसरण को स्पर्श नहीं करते हैं वैसे भावों से भी अनासक्त हैं। समोसरण की बात दूर रहे वे अपने शरीर से भी निर्ममत्व रहते हैं इसलिए समोसरण की विभूति रहते हुए भी वे पूर्ण अपरिग्रह धारी हैं। परन्तु राग-द्वेष से युक्त छद्मस्थ जीव के लिये उपर्युक्त सिद्धांत सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि जो अंतरंग से इच्छा, ममत्व, राग से युक्त होता है वह अनिच्छा पूर्वक परिग्रह को धारण नहीं कर सकता है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान् कर्म वर्गणा रूपी समुद्र में रहते हुये भी कर्म से निर्लिप्त रहते हैं परन्तु राग-द्वेषी जीव निर्लिप्त नहीं रह सकता है, क्योंकि वह राग-द्वेष के कारण कर्म बंध अवश्य करेगा ही। इसी प्रकार परिग्रह के लिये भी जानना चाहिये। इसलिये कुंदकुंद देव ने इस गाथा में कहा है कि जिसके पास परिग्रह का सद्भाव है वह मूर्च्छावान्, परिग्रहवान् कैसे नहीं होगा? अवश्य ही होगा। जो बाह्य द्रव्य संग्रह करता है, बाह्य द्रव्य कमाता है, बाह्य द्रव्य में रुचि लेता है, वह आत्म द्रव्य में किस प्रकार रुचि ले सकता है, रमण कर सकता है। एक कवि ने कहा भी है-

दो मुख राही चले न पंथा, दो मुख सूई सिये न कंथा।
दोऊ काज न होय सथाने, विषय भोग अरूप मोक्षप्रयाणे ॥

जिस प्रकार जहाँ अन्धकार होता है वहाँ प्रकाश नहीं होता है और जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अधंकार नहीं होता है। जितने-जितने अंश में प्रकाश बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश अधंकार घटता जाता है। उसी प्रकार जितने-जितने अंश में आत्म वैराग्य बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में परिग्रह कम होता जाता है, उतने-उतने अंश में आत्मा की लीनता बढ़ती जाती है। जिस प्रकार रेखा गणित में एक समकोण को दो कोण में विभक्त किया जाता है तब उन दोनों कोण में से एक कोण बड़ने पर दूसरे कोण कम हो जाता है तथा दूसरा कोण कम होने पर प्रथम कोण बढ़ जाता है

; परस्पर अनुपूरक व परिपूरक हैं। इसी प्रकार आत्म लीनता एवं परिग्रह त्याग परस्पर अनुपूरक -परिपूरक हैं। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है-

यथा-यथा समायांति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा-तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥ 31 ॥

जब तक आत्मस्वरूप का यथार्थ भान नहीं, तब तक ही उसे पंचेन्द्रियों के विषय प्रिय मालूम होते हैं और उनमें रति करता हुआ अपने को सुखी अनुभव करता है, परन्तु जिस समय उसे अपने निजानन्द, चैतन्य स्वरूप का भान हो जाता है तब उन विषय- सुखों से उसकी स्वयमेव विरक्तता एवं अरूचि हो जाती है और वह उनका परित्याग कर देता है। लोक में यह प्रवाद है कि अधिक सुख के कारण मिलने पर अल्पसुख के कारणों में अनादर हो जाता है। योगियों को यह भली भाति विदित है कि विषय भोग, संसारिक पराधीन अल्पसुख (सुखाभास) के कारण हैं और आत्मस्वरूप का चिन्तन निराकुलतारूप आत्मसुख का जनक है। इसी कारण वे देह भोगों से विरक्त हो एकान्तवासी बनकर स्व-पर के विवेक रूप चिन्तन में ही उपयोग को लगाते हैं। उनकी भोगों के प्रति क्या आस्था होती है यह निम्न पद्य से स्पष्ट है-

शमसुखशीलित मनसामशनमपिद्वेषमेति किमु कामा: ।

स्थलमपि दहति झाषाणं किमंग पुनरंगमंगाराः ॥ (1) ॥

जिस प्रकार शुष्क भूमि (सुखी जमीन) भी जब मछलीयों के लिए प्राण घातक है तब अग्नि की तो बात ही क्या है- अग्नि की गर्मी से मछलियां जरूर मृत्यु को प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार जिनका चित्त समता रूपी सुख से सम्पन्न है- परिपूर्ण है- वे जब शरीर स्थिति के कारण आहार आदि का महिनों के लिए परित्याग कर देते हैं तब कामभोगों को वे कैसे उपादेय मान सकते हैं? वे कामादि विकारों को सर्वथा हेय समझते हैं। इसलिए उनकी इनमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। योगी चूंकि आत्म स्वरूप के परिज्ञानी होते हैं। इस कारण इनकी विषयों में अरूचि होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार रोग से पीड़ित रागी, रोग को इलाज करता हुआ उस समय भी वह उस रोग को नहीं चाहता, तब आगे रोग की इच्छा कौन करेगा? उसी तरह सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से पीड़ित हुआ कर्म जन्य क्रिया को करता है, परन्तु वह उस क्रिया से उदासिन रहता है- रागी नहीं होता। तब भोगों की उसके अभिलाषा होती है यह कैसे कहा जा सकता है।

निशामयति निःशेषामिदं जालोपमं जगत् ।

स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुत्प्यते ॥ 39 ॥

जब तक आत्मा को अपने असली स्वरूप का पता नहीं चलता तब तक ही उसे बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते हैं पर स्व-पर का भेद ज्ञान होते ही उसे यह सारा जगत्

विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

इंद्र जाल के खेल के समान जान पड़ता है। इन्द्रिय- विषय निस्सार एवं विनश्वर प्रतीत होता है। दृष्टि के बदलते ही सारा संसार बदला हुआ सा मालूम होता है। अब दृष्टि में दृढ़ता - सत्यता और तत्त्वावेषण की रूचि होती है। अब आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य पदार्थों की तरह उसकी दृष्टि नहीं जाती है- वह पहले अपने को सुधार कर आत्म मार्ग में प्रविष्ट कर- संसार में सुधार मार्ग का आदर्श उपरिस्थित करना चाहता है। उसे अब संसारिक वैभव और शरीरादिक पदार्थ क्षणिक और निस्सार प्रतीत होते हैं। आचार्य अमितगति ने सुभाषित रत्नसन्दोह में कहा है-

भवत्येता लक्ष्मीः कृतिपयादि नान्येव-
सुखदास्तरूप्यरता विदधति मरः प्रीतिमतुलां ।
तडिलोलाभोगा वपुरविचलं व्याधि-कलितं
बुधा संचित्योति प्रगुणा मनसोब्रह्मणिरताः ॥ 35

ज्ञानी को यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखद प्रतीत होती है। तरुण स्त्रियाँ यौवन वन में ही अतुल प्रिति को बढ़ाती हैं। भोग बिजली के समान चंचल और शरीर व्याधि सहित जान पड़ता है। संसार के पदार्थों की ऐसी स्थिति देखकर ज्ञानी जीव अपने आत्म स्वभाव में ही प्रेम करते हैं।

यथा-यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ 38

ऊपर यह बतलाये हैं कि आत्मा के विशुद्धरूप की उपलब्धि में विषयों की अरूचि कारण है। इन्द्रिय विषयों की विरक्ति से आत्मा का वह विशुद्ध रूप अनुभव में आने लगता है, क्योंकि विषय -लोलुपता और परिग्रह संचय ये दोनों ही स्वात्मानुभव में बाधक हैं। अत एव जब विषयों की चाह और परिग्रह रूप ग्रन्थि से मूर्छा हट जाती है तब आत्मा अपने आनन्द का आस्वादी हो जाता है। समयसार कलश में कहा भी है।

विरम किमपरेणाकार्यं कोलाहलेन ।

स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ॥

हृदय सरसिपुंसः पुद्गलादभिन्न धाम्नो ।

ननु किमनुपलब्धिं भांति किं चोपलब्धिः ॥ 34

हे आत्मन् ! तू बिना प्रयोजन के इस निकम्मे कोलाहल से विरक्त हो और आत्मस्वरूप में लीन होकर छह महिने पर्यन्त इस चैतन्य स्वरूप आत्मा को देख। पुद्गल से भिन्न तेज वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति क्या तेरे इस हृदय रूपी सरोवर से नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी। अतः आत्मस्वरूप के जो अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे पंश्चेन्द्रिय के विषयों को हेय समझकर उनके परित्याग करने का प्रयत्न करें, और

एकान्त स्थान में बैठकर अपने उपयोग को आत्म तत्व के प्रति एकाग्र करने का प्रयत्न करें। आत्मानुशासन में गुणभद्र स्वामी ने भी ममत्व -निर्ममत्व त्याग ग्रहण आदि विषयों का मार्मिक वर्णन किया है। यथा -

अर्थिभ्यशृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान् ।

पापांतामवितर्पिणी विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ॥

प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्योन पर्यग्रहीत् ।

एतेते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्याग्निः ॥ 102

कोई विद्वान् मनुष्य विषयों को तृण के समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) को याचकों के लिये दे देता है, दूसरा कोई विवेकी जीव उक्त लक्ष्मी को पाप का कारण और असंतोष का कारण जानकर किसी दूसरे के लिये नहीं देता है, किन्तु उसे यों ही छोड़ देता है। तीसरा कोई महा विवेकी जीव उसको पहले ही अहितकर मानकर ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार ये त्यागी उत्तरोत्तर त्याग की उत्कृष्टता के जानने वाले हैं उत्तरोत्तर - उत्तरकृष्टता को प्राप्त हैं।

विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहादभुतम् ।

मा वर्मीत किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥ 103

यदि सज्जन पुरुष विरक्त होकर के उन सम्पत्तियों को छोड़ देते हैं तो इसमें आशर्य ही क्या है ? कुछ भी नहीं। ठीक ही है- जिस पुरुष को धृणा उत्पन्न हुई है वह क्या भले प्रकार खाये गये भोजन का भी वर्मन - (उलटी) नहीं करता है ? अर्थात् करता ही हैं

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्विकः स ताम् ।

करोति तत्वं विच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥ 104

मुर्ख पुरुष लक्ष्मी को छोड़ता हुआ शोक करता है तथा पुस्त्वार्थी मनुष्य उस लक्ष्मी को छोड़ता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्व का जानकार उसके परित्याग में न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है।

दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।

नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्प दूरं परम किमप्यसौ ॥ 107

हे भव्य, तू प्रयत्न करके सरल भाव से देया इन्द्रिय - दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त होजा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

विज्ञान निहत मोहं कुटी प्रवेशो विशुद्धं कायमिव ।

त्यागः परिग्रहणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ 108

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग

निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटी प्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देता है।

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम् ।

येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ 109

आश्र्य है कि जिसने स्वयं न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्ट रूप विश्व का उपभोग दूसरों को कराया है उस बालब्रह्मचारी के लिये नमस्कार हो।

उपर्युक्त विषयों को सरल भाषा में क्रम भेद रूप में प्रकारान्तर से वर्णन कर रहा हूँ। प्रत्येक जीव अमूर्तिक अनन्त गुणों का पिण्ड स्वरूप होने पर भी वैभाविक योग(मन-वचन-काय के स्पन्दन/चंचलता/ अस्थिरता) और वैभाविक उपयोग (मिथ्यात्व, अज्ञानता, कथाय आदि) के कारण अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं को शोषण (आस्र) करके स्वयं में मिश्रण (बंध) कर लेता है। इसे ही जैन धर्म में 1) द्रव्यकर्म कहते हैं। इसके परिपाक/उदय/परिणाम के कारण जीव में 2) भाव कर्म (राग-द्वेष-मोहादि) होता है। इस द्रव्य कर्म के उत्तर भेद स्वरूप 3) नो कर्म से विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से द्रव्य कर्म-भाव कर्म-नो कर्म तथा उसके फलस्वरूप जायमान राग-द्वेष आदि तथा शरीर आदि भी पर शोषणाश्रित है। इतना ही नहीं इससे फिर 1) सचित 2) अचित 3) मिश्रपरिग्रहों को शोषण करता है। यथा-

1) सचित परिग्रह (सचित शोषण)- नैतिक/धार्मिक/आदर्शरूप से भले “परोपकाराय सतां विभुमयः” जीवाणं रक्खणं धम्मो “परस्परग्रहो जीवानाम्” “उदार पुरुषाणं वसुधैव कुटुम्बकम्” आदि महान् सूत्र कार्य करते हैं। परन्तु प्रायोगिक रूप से व्यवहार में “जीव जीवस्यभक्षणम्” दूसरों को ठग मक्कारी से रोटी खाओ धी शक्कर से “उदरपोषणं बहुकृतं वेषम्” आदि सूत्र कार्य करते हैं। जिस प्रकार वृक्ष, पानी, खाद, वायु, सूर्य-किरण आदि को शोषण करके जीता है, बढ़ता है, फूलता है, फलता है उसी प्रकार शाकाहारी पशु-पक्षी-मनुष्य आदि वनस्पति को शोषण/भक्षण करते हैं, जीते हैं, समृद्ध होते हैं। इन्हें फिर मांसाहारी खाते हैं। यह तो सामान्य जीवन चक्र है, भोजन शृखंला है। परन्तु मानव केवल पेट के लिए (जीने के लिए) ही नहीं इससे भी अधिक पेटी (संग्रह) प्रसिद्धि, प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति आदि के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पशु-पक्षी मनुष्य (कुटुम्ब, दास-दासी, नौकर-चाकर) आदि सचित का शोषण करता है। जो अधिक से अधिक इनका शोषण करता है वह स्वयं को या दूसरे उसे बड़ा मानते हैं। उन्हें ही मालिक सेठ-साहुकार, धनी, वैभवशाली, राजा-महाराजा, चक्रवर्ती रूप में मानव समाज में प्रतिष्ठा मिलती है। भारत से लेकर अमेरिका, अफ्रिका, यूनान, रोम ईराक, ईरान आदि -देश में गुलाम (दास-दासी) के शारीरिक,

मानसिक, आर्थिक शोषण से वे मालिक आदि सम्पन्न बने थे। प्राचीन रोम आदि में 10-20% ऐसे व्यक्तियों की सम्पन्नता 80-90% गुलामों के खून-पसीना से बनी थी। गुलामों में परस्पर खूनी खेल खिलवाते थे तथा गुलाम-श्रूर सिंह की लड़ाई से वे हिंसानन्द का अनुभव करते थे, धन मान, सम्मान अर्जन करते थे। संक्षिप्त में कहे तो गुलामों की कूरता पर उनके सम्पूर्ण वैभव का निर्माण हुआ था। भले राजा हो या राज्य वैभव अथवा राजमहल से लेकर प्रतिष्ठा/प्रसिद्धि/ऐसा ही कमवेशी प्रायः हर देश के हर पंथ मत तथा राजनैतिक शासन में तथा शासकों के समय हुआ। अभी मानवीय स्वतंत्रता के युग में भी उपर्युक्त कार्य प्रायः हर देश में हर क्षेत्र में कम वेशी हो रहा है। कितनी धृणीत नीति/पद्धति/परम्परा रही कि 19 वीं शताब्दी तक मनुष्य मनुष्य को गुलाम बनाया, शोषण किया; 20 वीं शताब्दी तक स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार किया और वर्तमान में पशु-पक्षी के साथ-साथ वृक्ष एवं प्रकृति के साथ भी ऐसा व्यवहार कर रहा है। तो भी स्वयं को सर्वश्रेष्ठ प्राणी, विज्ञानी सभ्य, सांस्कृतिक तथा महान् मानता है। इन सब कारणों से ही पृथ्वी में विभिन्न व्यक्तिगत, पारिवारिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विशाल शाहाकारी प्राणी हाथी से लेकर सिंह आदि मांसाहारी प्राणी से भी मनुष्य अधिक सचित शोषण करता है- इस के लिए साक्षी है देश-विदेश के पुराण, इतिहास वर्तमान के पर्यावरण के असनुलून आदि आदि। वैज्ञानिक अनुसंधान से यह सिद्ध होता जा रहा है कि अभी तक पृथ्वी पांच बार प्राकृतिक कारणों से विनाश हुआ है परन्तु अभी जो पृथ्वी में प्राकृतिक विध्वंस हो रहा है और आगमी 6 वाँ महाविनाश होगा वह मनुष्य कृत होगा।

2) अचित परिग्रह (अचित शोषण)- इतर प्राणी से सचित परिग्रह/शोषण मनुष्य जितना अधिक करता है उससे भी कहीं अधिक अचित शोषण मनुष्य करता है। पेट शोषण रूपी अनिवार्य कारण से लेकर शाकाहारी या मांसाहारी पशु-पक्षी तक आवश्यक ही अचित शोषण करते हैं परन्तु मनुष्य के जैसे अनावश्यक भी अचित शोषण प्रायः कोई भी इतर प्राणी नहीं करते हैं। इतर प्राणी तो केवल पेट भरने के लिए तथा जीवन यापन के लिये अनिवार्य अचित वस्तुओं का प्रयोग करते हैं परन्तु मनुष्य तो अपने छोटे से पेट एवं शरीर की अनिवार्यता से भी अधिक पेटी, बैंक, आगामी पीढ़ी, दिखावा, प्रतिष्ठा, भोग-विलाशीता, फेशन-व्यसन आदि के लिए अचित शोषण करके स्वयं को वैभवशाली मानता है। इस के कारण प्रकृति के बेहन के साथ-साथ अनैतिक शोषण करता है जिससे प्रकृति का सनुलून बिगड़ता है, जिस कारण अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, मूर्मण्डलीय तापमान में वृद्धि, ओजन परत में छेद, सुनामी आदि प्राकृतिक आपदायें जन्म लेती हैं। इस के साथ-साथ वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी तक विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

को आवासीय, भोजन आदि की समस्यायें उत्पन्न होती हैं, अनेक प्रजातियाँ नष्ट हो जाती हैं। जिससे पुनः अनेक जैविक, रासायनिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं, इतना ही नहीं इस शोषण के कारण मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, शब्द प्रदूषण भी होते हैं। तथा आर्थिक प्रदूषण, सामाजिक प्रदूषण (शोषण-शोषित, धनी-गरीब, मालिक-मजदूर) भी होते हैं। महात्मा गांधी के अनुसार प्रकृति सब की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ है परन्तु एक भी व्यक्ति की तृष्णा पूर्ति करने में असमर्थ है। कहा भी है-

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपम् ।

कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ 36 आत्मानुशासन

अहो प्राणी ! प्रत्येक प्राणी में आशारूपी गङ्गा इतना गहरा है कि उसमें तीन लोक की विभूति अणु के समान सुक्ष्म है। यदि तीन लोक की विभूति एक प्राणी को मिल जाये तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होगी, तो फिर बैटवरे में किसको कितनी विभूति मिलेगी, (कि सब की तृष्णा शान्त हो जाये) इसलिये तेरी विषयों की इच्छा व्यर्थ है। तीन लोक का वैभव तो अल्प है और प्रत्येक जीव का आशारूपी गङ्गा इतना गहरा है कि उसमें तीन लोक का वैभव अणु के समान (अति अल्प) है, तो एक जीव का गङ्गा भी पूरा कैसे होगा? इसलिए विषयों की अभिलाषा करना व्यर्थ है।

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा ।

विमोहादीहेत सुखलवमवासुं नृपपदम् ॥

अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो ।

न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम् ॥ 34

मोह के कारण जिसमें सुख का अंश भासित होता है - ऐसे राजपद की अभिलाषा से पिता पुत्र को और पुत्र पिता को ठगता है। अहो ! बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख लोग जन्म-मरण रूपी दाढ़ के मध्य में स्थित, शरीर को निरन्तर हरणकर वाले यम को नहीं देखते हैं। जैसे किसी सिंह की दाढ़ में आया हुआ पशु, अपने शरीर को खाने वाले सिंह का विचार तो नहीं करता और क्रीड़ा करने का उपाय करता है तो बड़ा आश्चर्य होता है। उसी प्रकार यमराज की ढाढ़ के बीच में काल (मृत्यु) को प्राप्त यह लोक अपनी आयु का हरण करने वाले कालरूपी सिंह का तो विचार नहीं करता और राज्य आदि पद को प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय करता है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है, अतः ऐसी मूर्खता को छोड़कर यम का चिन्तन करते हुए विषयों की वाच्छा छोड़ना चाहिए।

वार्तादिभिर्विषयलोल विचार शून्यं, क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टिं यदि सकृत् परलोक बुद्ध्या, न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥ 47

हे विषय-लोलुपी ! विचार हीन !! इस लोक में धनोपार्जन के लिए असि, मसि, कृषि, वाणिज्यादि प्रयत्नों से तू जो कष्ट बारम्बार करता है, यदि एक बार पर-लोक के लिए ऐसा प्रयत्न करे तो तुझे जन्म-मरणादि दुःख न होगे। अतः तू धन का साधन छोड़कर धर्म का साधन कर। विषय-लोलुपी और विचार रहित लोग खेती आदि उपायों से धनोपार्जन के लिए बारम्बार प्रयत्न करते हैं। श्री गुरु दयालु होकर भव्य जीवों के उपदेश देते हैं अहो! तू धन के लिए बारम्बार जैसा कष्ट करता है वैसा उद्यम यदि एक बार भी पर-लोक के लिए को तो पुनः जन्म-मरणादि दुःख नहीं पायेगा अर्थात् भवसागर से तिर जाएगा। राग रहते हुए त्याग करने पर दुःख होता ही है और दुःख सहना कठिन है, इसलिए यदि सरागी पुरुष त्याग करें तो अवश्य ही आश्चर्य की बात है, परन्तु वैराग्य होने पर त्याग करने में कुछ दुःख नहीं होता, सुख ही होता है और सुख कौन नहीं चाहता, इसलिए सरागी पुरुष त्याग करें तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जिस प्रकार भोजन करने के पश्चात् किसी पुरुष को ऐसी ग्लानि हो जाए कि इस भोजन से मेरे प्राण चले जायेंगे तब यह प्रयत्न करके भी भोजन का वमन कर देता है, उसी प्रकार सहज उपलब्ध विषयों के सेवन से मेरा भी बुरा होगा -ऐसा जानकर उदासीनता होने पर विरक्त जीव उपाय करके भी उसका त्याग करता है-इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। धनादि का त्याग करने पर संसारी जीवों के दो प्रकार के भाव होते हैं। पराक्रम रहित व्यक्ति को यदि किसी कारण से धनादिक का त्याग (वियोग) हो जाए तो उसे बहुत शोक होता है तथा “ऐसा कैसे हो गया”- उस प्रकार अन्तरंग में बहुत खेद होता है। पराक्रमी पुरुष को यदि किसी कारण से धनादि का वियोग हो जाए या वह स्वयं उत्साह से धन का त्याग करे तो उसे गर्व होता है कि मैंने ऐसा कार्य किया -इस प्रकार उसे अहं हो जाता है। लेकिन यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि तत्त्वज्ञानी पुरुषों को धनादि का त्याग करने पर शोक और गर्व दोनों नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी धनादिक को परद्रव्य जानते हैं और परद्रव्य का त्याग होने पर खेद और गर्व दोनों नहीं होना चाहिए, इसलिए ज्ञानी शोक और गर्व रहित होते हुए पर द्रव्य का त्याग करते हैं।

नौकरों, श्रमिकों, पशु आदि के परिश्रम से प्राप्त सम्पत्ति आदि को ग्रहण करना भी प्राकृतिक कानून, आध्यात्मिक दृष्टि से शोषण है क्योंकि नौकर आदि स्वयं स्वतंत्र जीव हैं। उनके ऊपर दूसरों का किसी भी प्रकार अधिकार अनैतिक है एवं उनके तन-मन-धन-समय-श्रम का शोषण करना अपराध है। रस्किन द्वारा लिखित एवं महात्मा गांधी द्वारा अनुदित ‘सर्वोदय’ के अनुसार न्यायोचित स्वपरिश्रम से प्राप्त भौतिक वस्तु को छोड़कर अन्य वस्तु को ग्रहण करना चोरी है, शोषण है, अनैतिक है। प्रकरारान्तर से कालमार्क्स, लैनिन आदि ने भी साम्यवाद में उपर्युक्त विषय को राजनैतिक रूप में विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

स्वीकारा है। ईशा मसीह, कन्फूसियस्, महात्मा बुद्ध से लेकर उपनिषद के ऋषियों ने भी उपर्युक्त नीति को नैतिक, धार्मिक दृष्टि से कहा है। जैन धर्म के सभी तीर्थकर राजकुमार से लेकर राजा महाराजा से लेकर चक्रवर्ती हुए हैं परन्तु उन्होंने समस्त बाह्य वैभव को बन्धकारक, शोषणकारक, दुःखकारक रूप में अनुभव करके पूर्णतः त्याग किया और अन्तरंग अनन्त वैभव को प्राप्त किया। उन्होंने पूर्व अनुभव एवं आध्यात्मिक अनन्तज्ञान से जानकर कहा कि -सचित्त-अचित्त- मिश्र परिग्रह पाप कारक है, पतन के करण है। इसलिए उन्हान गृहस्थों के लिए अपरिग्रह अणुव्रत एवं साधुओं के लिए अपरिग्रह महाव्रत कहा जो स्वेच्छा से ग्रहणीय है।

3) **मिश्र शोषण (मिश्रण परिग्रह)** - वस्त्र, अंलकार से लेकर राज्य वैभव से युक्त स्त्री, कुटुम्ब, दासी, दास, पशु-पक्षी आदि कौ मिश्र परिग्रह कहते हैं। इसे ग्रहण करना शोषण करना मिश्र परिग्रह, (मिश्र शोषण) कहते हैं। बडे-बडे राजा-महाराजा-चक्रवर्ती के केवल अनेक मिश्र परिग्रह से युक्त हाथी घोड़ा -नोकर -चाकर नहीं थे परन्तु उनके अनेक सामन्त से लेकर राजा तक मिश्र परिग्रह थे। जैसा कि प्राचीन काल में चक्रवर्ती के आधीन 32 हजार मुकुट बद्ध राजा थे तो अर्द्ध चक्रवर्ती के आधीन 16 हजार राजा होते थे। उसी प्रकार अन्य राजा के आधीन भी अनेक छोटे राजा एवं सामन्त होते थे। ऐसा ही ऐतिहासिक काल में अलेक्जाण्डर (सिकन्दर) अकबर, इंग्लैण्ड के राजा के बारे में जान लेना चाहिए। उसी प्रकार अन्य सेठ-साहुकार आदि के भी मिश्र परिग्रह थे और अभी भी है। भले अभी अधिकांश देश में राजतंत्र नहीं है तथा पहले जैसे सचित्त एवं मिश्र परिग्रह नहीं है परन्तु कम वेशी प्रकारान्तर से पहले के जैसे भी है। पहले तो मिश्र परिग्रह (पशु से लेकर दास -दासी) को शोषित, अपमानित, प्रताडीत से लेकर क्रय-विक्रय किया जाता था। जब एक राजा दूसरे राजा के ऊपर विजय प्राप्त करता था तब वह उस राज्य की भौतिक सम्पत्ति से लेकर सचित्त एवं मिश्र सम्पत्ति को आधीन करता था, दोहन, शोषण, कूरता पूर्ण अनैतिक व्यवहार करता था। इसी प्रकार अभी भी मालिक से लेकर बहुराष्ट्रीय कम्पनि आदि दूसरों के शोषण से पोषित है, सम्पन्न है, समृद्ध है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से चक्रवर्ती, इन्द्र, कुबेर के वैभव को हेय, त्यजनीय, अनात्म स्वरूप कहा है। क्योंकि यह सब भौतिक (पुद्गल, जड़) नश्वर, पराश्रित है। इससे विपरीत आत्म विश्वास आत्मज्ञान, आध्यात्मिक सुख, वीर्य आदि अन्तरंग वैभव अमूर्तिक, अविनश्वर है। अतः ऐसे अन्तरंग वैभव को प्राप्त करने वाले ही यथार्थ से पुरुषार्थी, ज्ञानी, सफल व्यक्ति हैं।

बाह्य वैभव के दुष्परिणाम- “चोरी का माल मोरी में,” “जो जैसे करहि फल हूँ तैसे चखा” ‘बोया बीज बबूल का आम कहाँ से पाये’, as you so you

reap ‘कार्य कारण सिद्धान्त’ साधनानुसार सिद्धि “क्रिया प्रतिक्रिया” सिद्धान्तानुसार दूसरों के शोषणात्रित बाह्य वैभव भी स्वयं का भी शोषण करता है। देश-विदेश के प्राचीन से लेकर आधुनिक धार्मिक-राजनैतिक पुराण से लेकर इतिहास एवं वर्तमान काल की हजारों -लाखों घटनायें सिद्ध कर रही हैं कि केवल बाह्य वैभव से व्यक्ति से लेकर समाज, राष्ट्र का समग्र विकास के बदले में धीरे-धीरे समग्र विनाश ही हुआ है। इसके लिए साक्षी है रावण, कंस, रोमन साम्राज्य, मय सभ्यता, नेपोलियन, हिटलर से लेकर अनेक राजा-महाराजा, सेठ-साहुकार आदि- आदि। महान् राजनैतिज्ञ तथा अर्थ शास्त्री कौटल्य चाणक्य ने यह सब अनुभव करके कहा है-

यौवनं धनं सम्पत्ति प्रभूत्वमविवेकता ।

एकेमपि अनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अर्थात् 1) यौवन 2) धनं सम्पत्ति 3) प्रभूत्व 4) अविवेकता ये एक-एक ही अनर्थ के लिए कारण है तो जहाँ चारों हैं वहाँ कहना ही क्या है? इसलिए कहा है- “अर्थअनर्थाय मूलम्” “सर्वगुणा (सर्व दुर्गुणा) कांचनमाश्रयन्ति:” “कनक कनक तै सौ गुणी मादकता अधिकाय। वे खाये बौराये नर वे पाय बौराय” के अनुसार यौवन, सत्ता-सम्पत्ति और दुर्बुद्धि मनुष्य को मदमस्त कराके अन्याय, अत्याचार, पापाचार, भ्रष्टाचार, फैशनी-व्यसनी आदि में प्रवृत्त करा देते हैं। इसके फलस्वरूप विभिन्न शारीक- मानसिक-आध्यात्मिक- पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय समस्यायें/ दुस्परिणाम/ विनाश होते हैं। यह सब देश - विदेश के विभिन्न शोध से सिद्ध हैं। इस का बिन्दुबार वर्णन निम्नोक्त है-

1) **मद्यपान-नशीली वस्तुओं का सेवन** = वैभव की प्रचुरता से प्रथमतः मानसिक नशा (धनमद) चढ़ जाता है। इस के साथ सम्पत्ता की अनेक समस्या/ तनाव से व्यक्ति आवेशित हो जाता है जिसके कारण वह मद्यपान आदि करता है। इसके कारण पुनः व्यक्ति और भी अनेक दुष्परिणाम को वरण करता है।

2) **वैश्या गमन- परस्त्री- रमण- बलात्कार- सुरापायी सुरा के बाद सुंदरी को चाहता है।** प्रथमतः धनमद से ग्रसीत तथा द्वितीयतः नशामद से आवेशित, व्यक्ति काममद , अविवेकी, असंयमी होकर वैश्यागमन आदि करता है।

3) **भ्रष्टाचार-शोषण-उपर्युक्त कारणों से सम्पन्न व्यक्ति विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक भ्रष्टाचार करते हुए भी सत्ता-सम्पत्ति आदि के कारण भ्रष्टाचार को छिपाते हैं, उसे सही सिद्ध करते हैं।**

4) **दुर्बलों के ऊपर अत्याचार - उपर्युक्त दुराचार के साथ साथ सम्पन्न व्यक्ति दुर्बलों पर अत्याचार करता है।** प्रथमतः दुर्बलों को शोषण करके सत्ता-सम्पत्ति प्राप्त करके विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

व्यक्ति उपर्युक्त बुराईयों को पुनः करता है तथा उपर्युक्त बुराईओं के कारण पुनः दुर्बलों के ऊपर अत्याचार करता है।

5) **फैशन:**-उपर्युक्त कारण एवं परिणाम के साथ-साथ सम्पन्न व्यक्ति का और एक दुष्परिणाम है फैशन (विलाशीता, असभ्य-असांस्कृतिक वेश-भूषा, अश्लीलता)। “सादा जीवन उच्चविचार” के विपरीत वह “विलाशीता जीवन एवं नीच विचार” रूपी दुष्परिणाम को भोगता है।

6) **अपव्यय:-**ऐसा व्यक्ति दिखावा, स्टेटेस सिम्बल, रोब जमाने के लिए, नाम बढ़ाई, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि के लिए अनावश्यक आचरण करता है, परियह को संग्रह करता है, जिससे अन्य जरूरत मन्द वंचित रहते हैं, तथा स्वयं रख रखाव आदि की व्यवस्था, चिन्ता के साथ-साथ पुनः अपव्यय करना पड़ता है।

7) **आत्म हत्या:-** उपर्युक्त कारणों से सम्पन्न व्यक्ति विभिन्न कुण्ठा, तनाव समस्या, रोग, लोक निन्दा, आत्मग्लानि से संत्रस्त / पीड़ित होकर उपर्युक्त कुण्ठा आदि से पिण्ड छूटाने के लिए अन्तिम उपचार के रूप में आत्महत्या कर लेता है।

स्व-पोषणाश्रित वैभव का सुपरिणाम:- 1) इस के कारण व्यक्ति मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी प्रकार शारीरिक -मानसिक-वाचनिक-आर्थिक-समाजिक आदि कष्ट दूसरों को नहीं देता है। 2) इस के प्रतिफल स्वरूप स्वयं को भी उपर्युक्त किसी भी प्रकार के कष्ट नहीं मिलते हैं। 3) बाह्य वैभव के दुष्परिणाम प्रकरण में वर्णित दुष्परिणाम को भी वह नहीं भोगता है। 4) ऐसा व्यक्ति प्रामाणिक, परोपकारी, शान्त, सुखी, संतोषी होता है तथा दूसरों के लिए प्रिय-आदर्श-पूजनीय बन जाता है। 5) ऐसा व्यक्ति ही साधु-संत, धर्मात्मा, पुण्यात्मा, लोकमान्य, समाज सुधारक, धर्म प्रचारक, युग पुरुष आदि बनते हैं। 6) अन्त में ऐसा व्यक्ति ही धीरे-धीरे अन्तरंग वैभव का विकास करते हुए बुद्ध, अरिहंत, तीर्थकर, सिद्ध, बनते हैं। अतः स्वपोषणाश्रित वैभव के लिए कहा है-

गोधन गजधन बाजीधन और रतनधन खान।

जब आवे संतोषधन सब धन धूरी समान॥

परशोषणाश्रित वैभव के लिए-

गोधन गजधन बाजीधन और रतनधन खान।

जब न आवे संतोष धन सब धन धूरी समान॥

सत्य, समता, समन्वय, सहयोग, सह अस्तित्व, सुख से ही
यथार्थ से शाश्वतिक परम विकास संभव है।

8) विज्ञान का सदुपयोग जीव एवं धर्म के लिए भी उपकारक है

मैंने (आ. कनकनन्दी) मेरे अनेक लेख, साहित्य, संगोष्ठी, शिविर, प्रवचन आदि में सिद्ध किया है कि विज्ञान के सदुपयोग से विकास है तो दुरुपयोग से विनाश है। इस संक्षिप्त लेख में विशेषतः विज्ञान के सदुपयोग से हो रहे लाभ, विकास के बारे में वर्णन करूँगा। विशेष जिज्ञासु मेरी 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) धर्म दर्शन एवं विज्ञान 3) विज्ञान को भी अविज्ञात सत्य आदि कृतियों का अध्यान करें - । विज्ञान का सकारात्मक प्रभाव व्यक्ति से लेकर पृथ्वी तक के विश्वास, विचार, व्यवहार, कथन, भोजन, संचार, आदान-प्रदान, रहन-सहन, राजनीति, कानून, संगठन से लेकर धर्म एवं धरती पर भी पड़ रहा है। निम्न में कुछ विषयों का बिन्दु बार वर्णन कर रहा हूँ-

1) **धर्मान्धता, संकीर्णता आदि में कमी-** विशेषतः मध्यकाल में धर्मान्धता, संकीर्णता के कारण मानव ने अनेक हानिकारक मान्यताओं, संकीर्णताओं से आवेशित होकर विविध अन्याय, अत्याचार, पापाचार, हत्या, युद्ध आदि किया है। शारीरिक-मानसिक रोग, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, भूकम्प, आकाशीय घटना आदि को देवी-देवताओं के प्रकोप मानकर उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए पशु-पक्षी बलि से लेकर नर-बलि तक चढ़ाया जाता था। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय वाले एक-दूसरों को धर्म बाह्य, अधार्मिक, पापी मानकर परस्पर में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, संक्लेष से लेकर हत्या, युद्ध तक करते थे। परन्तु विज्ञान के कारण इस में कमी आ रही है। विज्ञान के कारण परस्पर के विचार, मत, पंथ, धर्म, संगठन, राष्ट्र आदि को समझाना, समीप में आना, सत्यांश को स्वीकारना आदि उत्तम कार्य हो रहे हैं। विभिन्न धर्म, राष्ट्र आदि स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या अथवा कार्यक्रम मिलजुलकर समाधान कर रहे हैं तथा आदान-प्रदान से लेकर सहयोग कर रहे हैं। इस से परस्पर की कटुता, संकीर्णता, पूर्वाग्रह, हठग्राहीता, गलत धारणायें घट रही हैं जिस से “वसुधैव कुटुम्बकम्” का सिद्धान्त प्रायोगिक रूप से चरितार्थ हो रहा है। इस में वैज्ञानिक शोध-बोध के साथ-साथ वैज्ञानिक उपकरण, संचार माध्यम का भी महत्व पूर्ण भूमिका है। प्रायः सर्व वैज्ञानिक सिद्धान्त, उपकरण, चिकित्सा पद्धति, औषधि आदि प्रत्येक धर्म एवं राष्ट्र वाले प्रयोग में लाने के कारण भी समन्वय, समानता, एकता, आदि गुण आ रहे हैं। इससे परस्पर की दूरी, कटुता, मानसिकता आदि में कमी आने के कारण मध्य कालीन संघर्ष, आक्रमण, लूट-पाट, धर्म के नाम पर युद्ध, धर्म परिवर्तन आदि कम हो रहे हैं।

उपर्युक्त कारणों से मध्यकाल में बाह्य धार्मिक कठोर छिलका को जो महत्व मिल

रह था वह महत्व धीरे-धीरे अन्तर्गत कोमल रस रूपी धर्म को मिलता जा रहा है। इसका प्रभाव व्यक्ति से लेकर पृथ्वी व्यवहार से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राजनीति में भी पड़ रहा है। इसके कारण किसी भी राष्ट्र में किसी भी प्रकार की प्राकृतिक आपदा आने पर या युद्ध आदि होने पर व्यक्ति से लेकर अन्य राष्ट्र भी सहयोग कर रहे हैं। इन सब कारणों से संयुक्त राष्ट्र संघ, यूनीसेफ, रेडक्रास, रोटरी क्लब, लायन्स क्लब, महावीर इन्टरनेशनल आदि संस्थाओं का जन्म एवं कार्य चल रहा है। इन सब संस्थायें धर्म, जाति, राष्ट्र, धनी, गरीब, शिक्षित, अशिक्षित आदि की संकीर्ण परिधि को लांघ कर काम कर रहे हैं।

2) प्राचीन सच्चे धार्मिकता को महत्व- आधुनिक विज्ञान के कारण संकीर्ण, अन्धविश्वास पूर्ण, हिंसात्मक धार्मिक मान्यताओं के खण्डन/पतन के साथ-साथ उदार, सत्य-तथ्यपूर्ण, अहिंसक धार्मिकता का मण्डन/उत्थान हो रहा है। 1960 तक जब विज्ञान में पर्यावरण सुरक्षा, परिस्थितिकी, सहअस्तित्व, सहजीवी, समान- अधिकार, समानता आदि का शुभारंभ/शुभागमन हुआ तब से अहिंसा, शाहाकार, मानवअधिकार, पशुक्रूरूता निवारण, महिला-समान- अधिकार, भृणहत्या विरोध, दासप्रथा उन्मूलन, लोकतंत्र, साम्यवाद, समाजवाद, अपरिग्रह, विश्वशान्ति, विश्वमैत्री, निरस्त्रीकरण, युद्ध बन्द आदि सच्चे धार्मिक कार्यों को समर्थन, सम्बल मिला और उसके प्रचार-प्रसार में तीव्रता आई। जिनोम सिद्धान्त, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान के कारण योगासन, ध्यान, प्रार्थना, अच्छी भावना, परोपकार, सेवा, सादा जीवन उच्च विचार, प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, प्राकृतिक अहिंसात्मक जीवनोपयोगी सामग्री एवं प्रसाधन सामग्री आदि का प्रभाव बढ़ रहा है। इन कारणों से सच्चे धर्म के साथ-साथ सच्चे धार्मिक व्यक्ति-साधु-संतों का भी गौरव बढ़ रहा है। भारतीय संस्कृति में अति प्राचीन काल से ही उपर्युक्त अहिंसा, शाकाहारादि अच्छे नियम, सिद्धान्त होने के कारण भारतीय संस्कृति वैज्ञानिक-वैश्विक संस्कृति बनती जा रही है और इसकी मान्यता, गौरव, उपयोगीता सर्वत्र फैलती जा रही है। भारतीय संस्कृति में विशेषतः जैन सिद्धान्त में आधुनिक विज्ञान से भी श्रेष्ठ सत्य-तथ्यपूर्ण विषय होने के कारण जैन धर्म वैज्ञानिक क्षेत्र में वैज्ञानिकों में अधिक ग्राह्य, मान्य हो रहा है। इसलिए वर्तमान में अनेक प्रोफेसर्स, विद्वान, वैज्ञानिक भी सच्चे-विद्वान जैन साधु-संतों के पास आकर पढ़ रहे हैं; उनकी सेवा-व्यवस्था कर रहे हैं; जैसा कि मेरे (आ.कनकनन्दी) लिए कर रहे हैं। आज सच्चे साधु-संतों को महत्व बड़े-बड़े नेता, श्रीमान्, धीमान्, सत्ता, सम्पत्तिवानों से भी अधिक है और वे आकर साधु-संतों के प्रवचन सुन रहे हैं, नतमस्तक हो रहे हैं और तो और अनेक साधु-संत बन रहे हैं।

मध्यकाल में स्त्री, गुलाम के लिए जो अधिकार, सुरक्षा, दया, प्रेम नहीं था आज उससे भी बढ़कर अधिकार, सुरक्षा, दया, प्रेम, केवल स्त्री, गुलाम के प्रति ही नहीं

परन्तु जंगली पशु-पक्षी से लेकर कुत्ता, बिल्ली, वृक्ष तक के लिए हैं। पहले तो स्वयं राजा, स्त्री, गुलाम, पशु-पक्षी के प्रति भी क्रूरता का व्यवहार करता था, शिकार करता था परन्तु आज स्वयं राजा (सरकार, कानून) उन्हें केवल अधिकार ही नहीं देता है परन्तु उनकी सुरक्षा, समृद्धि भी करता है तथा अधिकार की रक्षा भी करता है।

3) धर्म के प्रचार-प्रसार में तीव्रता- प्रेस, कम्प्यूटर, इंटरनेट, समाचार पत्र, टी. वी. माईक्रोफोनों आदि के कारण धार्मिक साहित्यों के प्रकाशन, धार्मिक प्रवचन- कार्यक्रमों का प्रचार-प्रसार सरलता के साथ-साथ तीव्रता से देश विदेशों में हो रहा है। ओडियो, बीडियो के माध्यम से भी प्रवचन आदि को चीर स्थाई बनाकर उसका उपयोग यत्र-तत्र-सर्वत्र हो रहा है। जो धर्म प्रचारक यान-वाहन में गमन करते हैं वे देश- विदेश में सरलता से शीघ्रता से जाकर धर्म प्रचार कर रहे हैं। इसलिए तो धार्मिक कार्यक्रमों के लिए अभी वसन्त त्रितीय है।

4) धार्मिक सिद्धान्त, व्यवहारादि को तथ्यात्मक समझने एवं समझाने में सुगमता- विज्ञान के सापेक्ष सिद्धान्त, कार्यकारण सिद्धान्त, कांटम-सिद्धान्त, अनिश्चितताव परिपूरक सिद्धान्त, ऊर्जा सिद्धान्त, गति सिद्धान्त, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जिनोम सिद्धान्त, प्रकाश सिद्धान्त, क्रिया- प्रतिक्रिया सिद्धान्त, मनोविज्ञान, एकीकृत सिद्धान्त आदि के कारण धर्म को समझने में एवं समझाने में भी सुगमता हो रही है। इसके साथ-साथ सूक्ष्मदर्शक, दूरबीन, कम्प्यूटर, लेजर किरण, सोनार यंत्र आदि भी इस कार्य के लिए उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

5) जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि- विज्ञान के कारण हरीत क्रान्ति (अनाज उत्पादन में वृद्धि), श्वेत क्रान्ति (दुध उत्पादन में वृद्धि) वस्त्र, गृहोपकरण, औषधि, चिकित्सा-उपकरण, शिक्षा उपकरण, मनोरंजन-सामग्री, यान-वाहन, संचार-साधनों की वृद्धि हुई है जिस के कारण अन्नाभाव (भूखमरी) कुपोषण, महामारी, अकाल मरण में कमी आ रही है, शिक्षा में भी वृद्धि हो रही है, मनोरंजन के साधन भी सुलभ हैं, यातायात सरल एवं तीव्र है। संचार माध्यम से देश विदेश की सूचनायें क्षण भर में घर-बाहर, जंगल में भी प्राप्त कर सकते हैं; यहाँ तक कि समुद्र की गहराई में, पृथ्वी के गर्भ में या सुदूर अन्तरिक्ष में भी। इन सब कारणों से आज मानव जल में मछली के समान तैर रहा है तो स्थल में वायु के समान संचार कर रहा है और अन्तरिक्ष में वायु की गति को भी परास्त कर दिया है। विज्ञान के कारण मनुष्य आज प्राकृतिक संसाधन का उपयोग तो कर रहा है और कुछ अंश में प्रकृति को भी अपना अनुकूल बना रहा है; सर्दी- गरमी को भी अपना अनुकूल बना रहा है, तो रात को भी प्रकाशमय कर रहा है। वैज्ञानिक उपकरणों (यान-विभिन्न क्रम विकास वाद एवं परम आध्यात्मिक विकास वाद

वाहन, कल-कारखाना) के प्रयोग से तथा प्रवृति के दोहन, शोषण से हानियाँ भी हो रही हैं परन्तु वैज्ञानिक सोच-सिद्धान्त से लाभ अधिक हो रहा है।

6) सर्वोत्तमुमुखी जिज्ञासु, सर्वोदय - आज का आधुनिक विज्ञान केवल पृथ्वी की परिधी में तथा भौतिकी की सीमा में आबद्ध नहीं है। वह अणु से लेकर ब्रह्माण्ड, पदार्थ से लेकर प्रति पदार्थ I.q. से लेकर E.q. को पार कर के S.q., ज्वालामुखी में स्थित जीव से लेकर सुदूर अन्तरिक्ष के अन्य ग्रह के जीव, स्वर्ग से लेकर नरक, इन्द्रिय-ज्ञान से लेकर अतीन्द्रियज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान से लेकर पूर्वनुमान एवं पूर्वाभासज्ञान, चेतन मन से लेकर अचेतन एवं अवचेतनमन तक के शोध-बोध-खोज-आविष्कार में सलग्र है; जैसा कि प्राचीन कालीन भारतीय महान् वैज्ञानिक, साधु-संत, तीर्थकर करते थे। भारतीय प्राचीन प्रतिभा ने तो स्व-अनन्त प्रज्ञा से उपर्युक्त विषयों को जान लिया था परन्तु अभी विज्ञान उस दिशा में सलग्र है। सुखद आश्चर्य होता है कि आज विज्ञान प्राचीन भारतीय विज्ञान का अनुकरण कर रहा है, उसे ज्ञात-अज्ञात रूप से सिद्ध कर रहा है, मान रहा है, उसकी शरण में आ रहा है। परन्तु साशर्य खेद है कि भारत के लोग अभी “घर का योगी योगीना, अन्य देश का सिद्ध” “घर का मूर्गी दाल बराबर” “अति परिचये होत है अनीति अनादर भाई” “नाभि में बसे कस्तुरी बाहरे ढूँढे मृग” के समान ऊर्पर्युक्त महान्, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, वैज्ञानिक, सार्वभौम, सर्व जीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, सर्वोदयी संस्कृतिकों न पूर्णतः समझ पा रहे हैं, न विश्वास कर पा रहे हैं न प्रचार-प्रसार कर पा रहे हैं। यह सब तो विदेश के महान् वैज्ञानिकों के कारण हो पा रहा है। भारत के लोग तो नकल करने में, फैसन-व्यसन, दीखावा, प्रतिष्ठा में, समय-शक्ति-बुद्धि-साधनों का दुरुपयोग कर रहे हैं। इसलिए तो विश्वगुरु भारत में सूई से लेकर सिलाई मशीन, प्रेस से लेकर कम्प्यूटर, रेल से लेकर रॉकेट, पर्यावरण सुरक्षा से लेकर विश्वशान्ति, शाकाहार से लेकर योग, कानून से लेकर राजनीति, रेडक्रास से लेकर संयुक्तराष्ट्र संघ में से किसी का भी आधुनिक काल में आधुनिक-वैज्ञानिक दृष्टि से शोध-बोध-आविष्कार, प्रतिष्ठापन नहीं कर पाया है। “जब जागे तब सबेरा” के अनुसार वर्तमान की अनुकूल परिस्थिति में भारतीय सुप्त-गुप्त प्रतिभाओं को जगना है, उठना है, खड़ा होना है, आगे बढ़ना है और लक्ष्य को प्राप्त करना है। तब भारतीय प्रतिभा जो महान् कार्य कर पायेगी वह कार्य विदेशी प्रतिभा के लिए भी महान् होगी, आर्दश होगी, अनुकरणीय होगी। क्योंकि भारतीय प्राचीन संस्कृति रूपी उर्वरा भूमि विदेश में नहीं है-केवल आवश्यकता है उस उर्वरा भूमि का योग्य बनाकर भारतीय प्रतिभा रूपी बीज को बोकर उसे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलप्रद बनाने की। अन्त में-

आर्य संस्कृति की याही पहचान। जीवन में है ज्योति, मरने पर निर्वाण ॥

कार्यक्रम (मार्च 2006 तक)

1. [w.w.w.jainkanaknandhi.org](http://www.jainkanaknandhi.org) (इंटरनेट वेबसाइट)
2. E-mail - info@jainkanaknandhi.org
3. राष्ट्रीय / अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठीयाँ - 7
4. धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन - 26
5. धार्मिक प्रशिक्षण कक्षाएँ - सैकड़ों
6. स्वसंघ-परसंघ के साधुओं के अध्ययन-अध्यापन के कार्यक्रम - सैकड़ों
7. प्रश्नमंच एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम, भजन, भाषण, सेवा-सैकड़ों
8. बच्चों, युवक-युवतियों को संस्कारवान बनाना एवं उनसे आहार लेना-हजारों
9. हर क्षेत्र में अच्छे व्यक्तियों को एवं संस्थाओं को पुरस्कृत करना-हजारों
10. हर विधा के वैज्ञानिक शोधपूर्ण साहित्य का सृजन एवं प्रकाशन- 156 ग्रंथ (छह भाषाओं में अनेक संस्करण)
11. कम्प्युटराइज्ड प्रतियोगिता - 6
12. गरीब, असहाय, रोगी, विपन्न मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की सेवा-सहायता करना।
13. व्यक्ति से लेकर राष्ट्र एवं विश्व में समता-सुख-शांति-मित्रता-संगठन आदि की स्थापना के लिए प्रयास
14. धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत, मुजफ्फरनगर, गाजियाबाद, कोटा, उदयपुर, सलुम्बर, प्रतापगढ़, मुंबई, अमेरिका)
15. धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर, अमेरिका)

संस्थान की नियमावली

1. विवक्षित पुस्तक के प्रकाशक, द्रव्यदाता को उसे उस पुस्तक की दशमांश प्रतियाँ दी जायेंगी।
2. संस्था के आजीवन सदस्य एवं ग्रंथ प्रकाशक (द्रव्यदाता) ग्रंथमाला का आजीवन सदस्य रहेगा तथा ग्रंथ माला से आगामी प्रकाशित पुस्तक की एक-एक प्रति निःशुल्क दी जायेगी।
3. साधु साधवी, विशिष्ट विद्वत्जन और विशिष्ट धर्मायितनों को पुस्तकें निःशुल्क दी जायेगी।
4. ग्रंथमाला से संबंधित कार्यकर्ताओं को प्रकाशित पुस्तकों की एक-एक प्रति निःशुल्क दी जायेगी।

आचार्य श्री कनकनंदी जी द्वाया रचित कुछ ग्रंथ

- 1 अनेकान्त सिद्धान्त
- 2 अहिंसामृतम्
- 3 अतिमानवीय शक्ति
- 4 अग्नि परीक्षा
- 5 अनेकान्त के प्रकाश में मोक्षमार्ग
- 6 अनन्त शक्ति संपन्न परमाणु से लेकर परमात्मा
- 7 आदर्श विचार-विहार-आहर
- 8 आध्यात्मिक मनोविज्ञान (इष्टोपदेश)
- 9 उपवास का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण
- 10 क्रान्ति के अग्रदूत
- 11 कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण
- 12 कर्ते साक्षात्कार यथार्थ सत्य का
- 13 जीवन्त धर्म सेवा धर्म
- 14 ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण
- 15 धर्म दर्शन एवं विज्ञान
- 16 नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान
- 17 निकृष्टम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी मनुष्य
- 18 पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
- 19 प्रथम शोध बोध आविष्कारक एवं प्रवक्ता
- 20 ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान
- 21 ब्रह्माण्ड के रहस्य
- 22 भाग्य एवं पुरुषार्थ
- 23 भारतीय आर्य कौन-कहाँ से-कब से, कहाँ के?
- 24 भाव एवं भाग्य तथा अङ्ग विज्ञान (सर्वाङ्ग विज्ञान की वैज्ञानिक गवेषणा)
- 25 भविष्य फल विज्ञान
- 26 विश्व द्रव्य विज्ञान (द्रव्य संग्रह)
- 27 व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (सप्तव्यसन)
- 28 संगठन के सूत्र
- 29 स्वप्न विज्ञान
- 30 सत्यसाम्यसुखामृतम् (प्रवचनसार)



राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय परसाद (उदयपुर) में विद्यार्थियों को विज्ञान एवं गणित की कक्षा में विज्ञान एवं गणित के सूत्र, उसके रहस्य तथा उसके प्रायोगिक स्वरूप बताते हुए आचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव, वरिष्ठ अध्यापक हेमराज कोठारी कक्षा में उपस्थित थे।

कृति परिचय

परिवर्तनशीलता अणु से लेकर ब्रह्माण्ड, चेतन से लेकर अचेतन, आत्मा से लेकर परमात्मा का स्वभाव होते हुए भी वे शाश्वतिक, अकृत्रिम, अनंतगुण-धर्मात्मक हैं। इसलिए विश्व तथा जीव के कर्ता-धर्ता-हर्ता रूपी ईश्वरकर्तावाद, विशेष सृजन (इंटेलिजेंट डिजायन) या डार्विन के विकासवाद यानि प्राकृतिक चयन अथवा संघर्षवाद की परिकल्पना की आवश्यकता ही नहीं है। इतना ही नहीं दोनों मत में अनेक कमियाँ, भ्रांतियाँ, विषमतायें, विपरीततायें स्पष्ट परिज्ञात होती हैं। दोनों वाद की अपेक्षा जीव का अस्तित्व ही नहीं था तो ऐसे असत् का उत्पन्न ही संभव नहीं है। इस प्रकार यथा योग्य विश्व के बारे में भी जानना चाहिए। विशेष सृजन की अपेक्षा दोष यह है कि सर्वशक्तिमान, परमदयालु, सर्वज्ञ, ईश्वर की सृष्टि में इतना दुःख, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, विषमता, समस्या, भेदभाव क्यों हैं? अभी भी करोड़ों-अरबों वर्ष पहले के अनेक जीवों के सद्ब्राव, बंदर की पूँछ का अस्तित्व, ट्रासियर बंदरों की $4\frac{1}{2}$ करोड वर्ष पूराने जीवाश्मों से वैज्ञानिकों ने ही सिद्ध किया कि इनकी दातों की बनावट या आकार में कोई फर्क नहीं आया है आदि तथ्य डार्विन के क्रम विकासवाद के खोखलापन के साक्षी हैं। फिर ब्रह्माण्ड तथा जीवों के अस्तित्व, विकास, शांति-सफलता आदि क्या है? कैसे हैं? क्यों हैं? कब से हैं? कब तक हैं? आदि का अध्ययन इस गणितिय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक खोज, शोधपूर्ण कृति से कर के स्वयं परम विकासमय एवं शांति-सफलतामय बने इस भावना के साथ - अचार्य कनकनंदी

आगामी विशेष महत्वपूर्ण कार्यक्रम

जैन एकता सर्वधर्म समता भाव एवं विश्वशान्ति तथा अष्ठम
अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी - 2007

- | | | |
|------------|---|--|
| मार्गदर्शन | - | वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनन्दी गुरुदेव ससंघ |
| सानिध्य | - | आचार्य महाप्रज्ञ, सम्पूर्ण जैन सम्प्रदाय के साधु-संत तथा विभिन्न धर्म के साधु-संत आदि। |
| स्थान | - | भुवाणा-उदयपुर (राज.) |